बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या

भाग–2

- ज्ञान चौंतीसा
- विप्रमतीसी
- कहरा
- बसन्त
- चाचर
- बेलि
- बिरहुली
- हिण्डोला
- साखी

ज्ञान चौंतीसा

हेतु छन्द

है वर्ण मात्रा संधि मिलि,
बहु शब्द का घनघोर जू।
इह अर्थ भाव विभेद लक्षित,
को गिनै कहँ थोर जू॥
कहुँ भोग विषयानन्द के,
कहुँ योग ब्राह्मिक शोर जू।
दोनों अहन्ता परख डाले,
परख ही सत ओर जू॥

दोहा

शब्द जाल आरण्य में, भटकत जिव विभ्रान्त।
सोई परखावन हेतु को, चौंतीसा निर्भ्रान्त॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

तृतीय प्रकरण : ज्ञान चौंतीसा

ॐ पर विचार

ॐकार आदि जो जानै। लिख कै मेटै ताहि सो मानै॥
ॐकार कहैं सब कोई। जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥

शब्दार्थ—आदि=मूल, आरम्भक।

भावार्थ—जो यह जानता है कि ॐकार का मूल मनुष्य है, वह यह मानता है कि मनुष्य ही कागज या पाटी पर ॐ लिखकर पुनः उसे काट देने में समर्थ है। ॐ-ॐ तो प्रायः सभी कहते हैं, परन्तु जिसने इसकी वास्तविकता की परीक्षा की, वह बिरला है।

व्याख्या—ॐ इत्यादि शब्द एवं क से ह तक जितने वर्ण हैं सब मनुष्य के कंठ, तालु, दंत, ओष्ठ आदि से उच्चरित होते है।[1] वर्णों के आकार, मात्रा, संधि आदि के स्वरूप का निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है। उपर्युक्त ककारादि स्वतन्त्र वर्णों के द्वारा जितनी भाषाएं बनायी गयी हैं, सब काल्पनिक रूढ़ियां हैं और जितनी लिपियां हैं, सांकेतिक चिन्ह हैं। इनका निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है।

---

1. कौन से वर्ण तथा स्वर किस स्थान से उच्चरित होते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—
   कंठ से—अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह।
   तालु से—इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, श।
   मूर्द्धा से—ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष।
   दंत से—त, थ, द, ध, न, ल, स।
   ओष्ठ से—उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म।
   कंठ-तालु से—ए, ऐ।
   कंठ-ओष्ठ से—ओ, औ।
   दंत-ओष्ठ से—व। (बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी)

वैदिक आर्यों में पूजा[1] की पद्धति नहीं थी। वे पूजा शब्द भी नहीं जानते थे। अतएव मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हां, वे आगे चलकर उपासना करने लगे थे, जो मन को एकाग्र करने का प्रयास है। आरम्भिक साधक को कोई अवलम्ब चाहिए। अतः उन्होंने 'ॐ' की कल्पना की। मनुष्य खा-पीकर जब खाट पर लेटने जाता है तब प्रायः कहता है 'ओम'। गाय-बैल भी अपनी इच्छा व्यक्त करने के लिए जब बोलते हैं तब उनके मुख से आवाज निकलती है 'ओं-ओं'। मनुष्य ने इन शब्दों का विकास करके 'ॐ' शब्द की कल्पना की। वह 'ॐ' को प्रतीक मानकर इसमें मन रोकने लगा। जब कोई वस्तु श्रद्धास्पद होती है, तब उसकी व्याख्या बढ़ने लगती है। अतएव उत्तरोत्तर 'ॐ' की व्याख्या बढ़ने लगी।

ॐ की व्याख्या अनेक ग्रन्थों में अनेक मतों द्वारा अनेक प्रकार से की गयी है। थोड़ी बानगी लें—

"प्रणव का बोध कराने के लिए उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहां प्रसिद्ध आगमों की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण-क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओंकार के अवयवों के नाम हैं—अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य समना तथा उन्मना। इनमें से अकार, उकार और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और संहार के संपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारांतर से ये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के भी वाचक हैं। बिन्दु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओं का स्थितिकाल क्रमशः संक्षिप्त होकर अन्त में एक मात्रा में पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा पर समग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि में पहुंचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिए इस एक

---

1. "आज घर-घर में हवन नहीं, पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप, दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं। एक समय यह समझा जाता था कि पूजा संस्कृत शब्द है, जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किन्तु यह मान्यता अब नहीं चलती। अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं 'पू' और 'जै' (शइ) के योग से बना है। तमिल में 'पू' का अर्थ पुष्प होता है और 'जै' का अर्थ कर्म। अतएव 'पू' और 'जै' के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहाँ फिर अहिंसा की परम्परा, मूल में, द्राविड़ दिखाई देती है, क्योंकि हवन पशु-कर्म था। पीछे आर्यों के यहाँ भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पड़ा। पूजा के प्रेमी कभी-कभी हवन भी करते हैं, किन्तु अहिंसक ढंग से। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति नूतन अवदानों को ग्रहण करने के बाद भी अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती आयी है।"
(रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 72-73)

मात्रा का भी भेद कर अर्ध मात्रा में प्रविष्ट हुआ आता है। तदुरान्त क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओं का भेद करना पड़ता है। बिन्दु अर्ध मात्रा है। उसके अनंतर प्रत्येक स्तर में मात्राओं का विभाग है। समना भूमि में जाने के बाद मात्राएं इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरों के लिए उसके आगे बढ़ना संभव नहीं होता, अर्थात वहां की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यों का उपदेश है कि इसी स्थान में मात्राओं को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोड़ा-सा आभास मांडूक्य उपनिषद् में मिलता है।

"बिन्दु मन का भी रूप है। मात्राविभाग के साथ-साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म हो जाता है। अमात्र भूमि में मन, काल, कलना, देवता और प्रपंच, ये कुछ भी नहीं रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहां स्वयं प्रकाश ब्रह्म निरन्तर प्रकाशमान रहता है।"[1]

"सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है तो एक बड़ा घोर शब्द अर्थरहित गूंज के साथ निकलता है, जैसे इंजन में होता है और वह बड़ी देर तक रहता है। उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ अथवा 'अ, उ, म' में उसका आरोप कर लेते हैं। और जब वह शब्द फट जाता है, तब उसमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व सूक्ष्मरूप से निकल आते हैं। फिर वह शब्द शान्त होकर लुप्त हो जाता है। इन आकाशादि पंच तत्त्वों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसीलिए जो कुछ सृष्टि है, सब 'ओंकार' रूप ही है। इस कारण ओंकार की उपासना अति श्रेष्ठ है।

"जब ईश्वर ने जीवों के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि रचने की इच्छा की, तो प्रथम शब्द ध्वन्यात्मक ॐ—ऐसा निकला। उसी से उसके पश्चात वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' उत्पन्न हुआ। अर्थात एक अद्वितीय ओंकाररूप ब्रह्म में मैं बहुत प्रकार से होऊं, यह इच्छा होते ही चराचर सृष्टि हो गयी। इसलिए जितनी सृष्टि है चाहे प्रकट भाव से हो या अप्रकट भाव से हो वह सब ब्रह्म ही है अथवा ॐकार रूप है। वेदों में जो ऋचा के पहले या पीछे ॐ का प्रयोग किया जाता है वह यह बताता है कि जो कुछ ॐ शब्द के पश्चात कहा जायेगा या पीछे कहा गया है, वह सब ओंकार रूप ही है, उससे पृथक कोई वस्तु नहीं है। ॐकार में तीन अक्षर हैं—'अ+उ+म'। 'अ' का अर्थ है—

---

1. हिन्दी विश्व कोश, नागरी प्रचारिणी काशी।

जाग्रत का अभिमानी देवता विश्व, 'उ' का वाच्य है—स्वप्न का अभिमानी देवता तैजस, तथा 'म' से बोध्य है—सुषुप्ति का अभिमानी देवता प्राज्ञ। तात्पर्य यह है कि तीनों अवस्थाओं के जो पृथक-पृथक अभिमानी देवता हैं, वे ॐकार रूप ही हैं, मायाविशिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट ये भी ॐकार रूप ही हैं। भाव यह कि ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त सब ॐकार रूप ही है।"[1]

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् इति।'[2]

'ओम' यह अक्षर ही यह सारा जगत है।

अब हम उक्त बातों पर थोड़ी समीक्षा करें—सृष्टि के आदि में जो शब्द हुआ, उसमें जीवन्मुक्तों ने ॐ का आरोप किया। सृष्टि के प्रथम जीवन्मुक्त कहां रहते थे? उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह स्थावर-जंगम समस्त विश्व ॐ ही है। अब यदि मुमुक्षु को संसार का अध्यास छोड़ना है तो ॐ को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि ॐ और जगत दो वस्तु नहीं हैं।

ॐ, ब्रह्म, जगत—एकार्थ बोधक हैं, अर्थात उक्त तीनों शब्दों का तात्पर्य एक है। जो ॐ और ब्रह्म दुखपूर्ण जगत ही है, विवेकियों के लिए वह कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तव में ॐ को कागज और पाटी पर लिखने तथा काट देने वाला यह मनुष्य जीव ही स्वतन्त्र है। सारी कल्पनाएं इसी की हैं; अतः मनुष्य जीव ही सर्वोपरि है, ॐ नहीं।

कबीर साहेब भावना में बहने वाले व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु वे तथ्यपरक विचार के पक्षधर हैं। अतएव वे भावना के कुहासे को छांटकर वास्तविकता का दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं 'ॐ' शब्द की कल्पना मनुष्य ने की। वही पाटी और कागज पर उसे लिखता तथा वही उसे काटकर मिटाता है। इसलिए मनुष्य ही 'ॐ' का मूल है, सिरजक है। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता, वह अध्यात्म को क्या समझ सकता है! मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। ॐ तो मनुष्य का कल्पित शब्द मात्र है। कबीर देव ने अन्यत्र भी कहा है—"मैं तोहि पूछौं पंडिता, शब्द बड़ा की जीव।"[3]

आरम्भ में साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने मतानुसार नाद, बिन्दु, ॐ, किसी महापुरुष का चित्र आदि कुछ भी ले उसके लिए यहां

---

1. कल्याण, उपासना-अंक, वर्ष 42, पृष्ठ 182।
2. मांडूक्य उपनिषद्, मंत्र 1।
3. बीजक, साखी 22।

कोई खण्डन नहीं किया जा रहा है। अनर्थ है इन सब कल्पित अवधारणाओं को सर्वोच्च मान लेना और अपने स्वरूपभाव को भूल जाना। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य की अपनी आत्मा सर्वोपरि है और मानवतावादी कबीर देव का यही निर्देश है।

सद्गुरु ने इस ज्ञान चौंतीसा प्रकरण में प्रायः परमत-खण्डन से हटकर स्वरूपज्ञान, वैराग्य, मनोनिग्रह एवं साधनात्मक बातें कही हैं, जो बड़ी मार्मिक हैं। क से क्ष तक चौंतीस अक्षरों को माध्यम बनाकर ग्रन्थकार ने जो ज्ञानगंगा बहायी है उसमें साधक को निमज्जन करना चाहिए।

स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति

क

ककका कँवल किर्ण में पावै। शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिंआवै॥
तहाँ कुसुम रंग जो पावै। औगह गहि के गगन रहावै॥ 1॥

शब्दार्थ—कँवल=कमल, हृदय। किर्ण=किरण, रश्मियां, प्रकाश, ज्ञान। शशि=चन्द्रमा, मन। ब्रिगसित=विकसित, जाग्रत। सम्पुट=बंद होना, जड़ता। कुसुम रंग=पीला रंग, स्वर्ण रंग, तात्पर्य में तथ्य। औगह=मन-वाणी से परे। गगन=हृदय।

भावार्थ—'क' अक्षर कहता है, अर्थात सद्गुरु कबीर क अक्षर को माध्यम बनाकर उपदेश करते हैं कि हे साधक! हृदय-कमल के ज्ञान-प्रकाश में ही तुम स्वरूप का बोध पाओगे, किन्तु शर्त यह है कि तुम्हारा मन विकसित एवं प्रबुद्ध हो। वह विषय-वासनाओं में सुप्त न हो जाये। ज्ञान से प्रकाशित हृदय में जब स्वर्णिम स्वरूपबोध प्राप्त करो, तब उस अग्राह्य ध्येय-वस्तु को ग्रहणकर हृदय में स्थित रहो॥ 1॥

व्याख्या—क अक्षर से सद्गुरु ने कमल लिया है, जो तात्पर्य में हृदय है। मनुष्य का हृदय-कमल ज्ञान-प्रकाश का पुंज है। परन्तु वह विषय-वासनाओं के परदे से ढका है। जब वह परदा हटता है, तब मनुष्य का हृदय ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है। ऐसे आलोकित हृदय में ही स्वरूपबोध, आत्मबोध एवं तत्त्वबोध होता है। विकारों से भरे हुए मन में स्वरूपबोध नहीं हो सकता। सत्संग, गुरु-उपासना, सेवा, विनम्रता, भक्ति आदि से हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदय में विवेक जाग्रत होता है। जिसका विवेक सदैव जगा रहता है उसका हृदय प्रकाशित रहता है। जिसका हृदय सदैव ज्ञान से प्रकाशित रहता है, वही 'स्व' और 'पर' के भेद को समझकर 'पर' से 'स्व'

को छुड़ा लेता है। 'पर' जड़ है, भास है, पांच विषय है, दृश्य है; और 'स्व' चेतन है, भास्कर है, द्रष्टा एवं ज्ञानरूप है। पर से मुक्त होकर 'स्व' में स्थित होना ही मानव की आत्मा की सहज मांग है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें आत्मबोध एवं आत्मसंतोष की प्राप्ति अपने ज्ञानालोकित हृदय में ही होगी।

स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की निरंतरता बनी रहे, इसके लिए शर्त है "शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै" अर्थात मन सदैव जाग्रत रहे। वह विषयों में मूढ़ एवं सुप्त न बने। शशि कहते हैं चन्द्रमा को। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है। इसलिए यहां चन्द्रमा से अर्थ मन है। तेरहवीं रमैनी में भी जहां कहा गया है "ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई" वहां भी चन्द्रमा का अर्थ मन ही है। सद्गुरु कहते हैं कि साधक का मन सदैव विकसित, चिन्तनशील, विवेकशील एवं जाग्रत रहना चाहिए। साधक सदैव अपने मन पर सावधान रहे। उसे विषयों के स्मरणों में न डूबने दे। अन्यथा वह इसी में प्रसुप्त हो जायेगा। विषयों में डूबा मन स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के योग्य नहीं रह जाता। अतएव साधक को चाहिए कि वह एकरस स्वरूपस्थिति को बनाये रखने के लिए अपने मन को जाग्रत रखे।

"तहाँ कुसुम रंग जो पावै" यहां कुसुम रंग का शाब्दिक अर्थ न लगाकर लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। कुसुम रंग का अर्थ यहां पीला रंग नहीं है, किन्तु शुद्ध स्वरूपज्ञान है। साखी प्रकरण में सद्गुरु ने कहा है "हंसा तू सुवर्ण वर्ण" [1] यह सुवर्ण वर्ण या स्वर्णिम रंग पीला रंग नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि जब तुम्हें अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो, तब उसे धारणकर शांत हो जाओ।

"औगह गहि के गगन रहावै" अपना स्वरूप अपने आप को अग्राह्य है, परन्तु उसे ही ग्रहण करके शांत होना है। प्रश्न होता है कि अग्राह्य ग्राह्य कैसे हो सकता है? उत्तर साफ है। हम अपने दाहिने हाथ को दाहिने हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु हाथ तो हमारा ही है, ऐसा समझ लें तो हाथ पकड़ा हुआ ही है। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख सकते; किन्तु अन्य को देखने से यह स्वतः सिद्ध है कि हमारी आंखें हैं। अपने चेतनस्वरूप को अलग से पकड़ने की बात ही असंभव है, किन्तु 'मैं ही चेतनस्वरूप हूं' इसको तत्त्व से समझ लेने पर वह पकड़ा हुआ हो गया। इसलिए 'औगह' को

---

1. बीजक, साखी 14।

ही 'गहना' है। जो पकड़ने में नहीं आता उस स्वस्वरूप को ही पकड़ना है। अर्थ है समझकर शांत होना।

"गगन रहावै" का अर्थ है हृदय में शांत रहे। हृदय ही चेतन हंस का आकाश है। श्रुति भी कहती है "वह आत्मा हृदय में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसलिए हैं, क्योंकि 'हृदि+अयम्' वह हृदय में है। जो इस रहस्य को दिन प्रतिदिन जानता है, वह उसे बाहर ढूंढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूंढ़ता है और वहीं मानो स्वर्ग को पा लेता है।"[1]

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे दोष हैं, उन्हें जीतो

ख

खखा चाहै खोरि मनावै। खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै॥
खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये। होय न खीन अक्षयपद लहिये॥ 2॥

शब्दार्थ—खोरि=गली, इन्द्रियां, दोष, बुराई। मनावै=सुधार करे। खसमहिं=पति को, मालिक को। खसमहिं=दुश्मन को, शत्रु को। खसम अरबी शब्द है, इसके अर्थ पति और शत्रु, दोनों होते हैं।

भावार्थ—ख अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करो तथा उनमें पड़े हुए दोषों का सुधार करो। क्योंकि यह मनोवृत्ति चेतनस्वरूप-पति को छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। तुम्हारी बुराइयां ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन्हें छोड़ दो और दूसरों द्वारा अपने ऊपर किये गये आघात के अपराध को क्षमा करो। फिर तुम पतित नहीं होओगे, प्रत्युत अविनाशी-पद को प्राप्त करोगे॥ 2॥

व्याख्या—जो मनुष्य अपने जीवन में खैर, शांति, मंगल चाहे, उसका पहला काम है कि वह अपने मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करे। दोषों का सुधार एवं बुराइयों का त्याग किये बिना और मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना किसी को भी जीवन में शांति नहीं मिल सकती। जो तथाकथित धार्मिक गुरु मोक्ष के सस्ते नुस्खे बांटते घूमते हैं और सारी बुराइयों में डूबे रहने पर भी केवल छूमंतर से मोक्ष देते हैं, वे साधकों को भ्रम में डालते हैं। कबीर साहेब महंगे गुरु हैं, वे किसी को धोखा देना नहीं जानते,

---

1. स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति।
तस्माद्हृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥
(छांदोग्य उप. 8/3/3, सत्यव्रत सिद्धांतालंकार की टीका)

अपितु खरी-खरी बातें कहते हैं। वे कहते हैं, दोषों का त्याग तथा मन-इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना कल्याण है ही नहीं।

'खसम'[1] अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'पति' एवं मालिक है और 'शत्रु' भी है। ये दोनों इसके परिनिष्ठित अर्थ हैं। जबर्दस्त भाषाशिल्पी कबीर साहेब ने यहां पहली पंक्ति में खसम का अर्थ 'पति' और दूसरी पंक्ति में खसम का अर्थ 'शत्रु' मानकर उसका यथायोग्य प्रयोग किया है। वे कहते हैं "खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै" अर्थात यह मनोवृत्ति पति—चेतन देव का स्मरण छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। यह चेतन जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का पति है। परन्तु विषयी मन स्व-स्वरूप चेतन का स्मरण छोड़कर विषयों में भटकता है। इसलिए इन्द्रिय-विषयों एवं बुराइयों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विषय-त्याग से मन निर्मल होगा और आत्मचिन्तन का अनुरागी होगा।

संसारी लोगों के जीवन में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएं हैं ही, किन्तु साधक तथा विवेकवान को भी अपने जीवन में ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने अज्ञान एवं ईर्ष्यावश उनके साथ शत्रुता का बरताव करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे भटके लोग तुम्हारे साथ भले ही शत्रुता का बरताव करें, परन्तु वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। क्योंकि वे तुम्हारी आध्यात्मिक हानि नहीं कर सकते। अतएव उन पर दया करो और उन्हें हृदय से क्षमा कर दो। शत्रु तो तुम्हारे दोष हैं, तुम्हारे मन-इन्द्रियों की बुराइयां हैं। तुम उन्हें छोड़ो। "खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये।" अर्थात अपने दोषरूपी शत्रुओं को छोड़ो और अपने भूलवश जो लोग तुम्हारी आलोचना में लगे हैं; उन्हें क्षमा करो। वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। वे तुम्हारा कोई नुकसान नहीं कर सकते। तुम्हारा पतन तो तुम्हारी बुराइयां करती हैं। तुम्हारी मन-इन्द्रियों की लंपटता तुम्हारे पतन का कारण है।

तुम अपनी कमजोरियों, बुराइयों, इन्द्रियलंपटताओं, मन की चंचलताओं को छोड़ दो, तो अन्य कोई तुम्हारा पतन नहीं कर सकता। "होय न खीन अक्षय पद लहिये" जिसने अपने में रहे हुए दोषों का त्याग कर दिया, उसको पतित करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। वह अक्षयपद का अधिकारी होता है। प्रत्यक्ष है, संसार में जिसने दोषों को जीतकर आत्मविजय प्राप्त की वह

---

1. संस्कृत भाषा में 'ख' का मुख्य अर्थ शून्य एवं आकाश किया गया है। उसमें 'सम' मिलाकर आकाश के समान अर्थ होगा। किन्तु कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में प्रायः अरबी भाषा के खसम का ही प्रयोग किया है।

अक्षय एवं अमृतपद का अधिकारी हुआ। अपने विरोधियों से लड़-लड़कर किसी को आत्मसंतोष नहीं मिल सकता है, किन्तु अपनी बुराइयों को छोड़कर तथा विरोधियों को दिल से क्षमा कर ही आत्मसंतोष मिल सकता है। यही अक्षयपद, मोक्षपद, निर्वाणपद का रास्ता है। श्रुति भी कहती है कि मोक्ष को वही देखता है, वही पाता है, जो क्षीण-दोष है।[1]

गुरुवचनों के आचरण से ही शांति

ग

गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥
तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई। औगह गहि के गगन रहाई॥ 3॥

शब्दार्थ—बिहंगम=विहंगम, पक्षी, तात्पर्य में मन। गगन=आकाश, हृदय।

भावार्थ—ग अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि गुरु के वचनों को मानो और दूसरे शब्दों पर कान न दो। गुरु-उपदेश के आचरण करने का फल स्वरूपस्थिति है जिसमें मन-पक्षी का प्रवेश कभी नहीं होता, और साधक अपने निराधार एवं असंग स्वरूप का भाव ग्रहणकर हृदय में शांत हो जाता है॥ 3॥

व्याख्या—"गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥" इस वाक्य में गुरु के वचनों को मानने पर जोर दिया गया है और दूसरे वचनों पर ध्यान न देने का सुझाव दिया गया है। यहां कोई स्थूल अर्थ न मान ले कि किसी भी गुरु नामधारी के वचनों को मान लेने की बात यहां कही गयी है। यह सच है कि सच्चे गुरु भी होते हैं जिनके ज्ञान और आचरण दोनों पवित्र होते हैं और उनकी बातों को बेधड़क मान लेने में साधक का कल्याण ही है। परन्तु ऐसे भी गुरु होते हैं जो आंशिक या सर्वाधिक कमजोर होते हैं। अतएव सुरक्षित मार्ग यही है कि निर्णय वचनों को ही गुरुवचन माना जाये। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने कहा भी है "निर्णय बानी गुरुमुख होई" अर्थात निर्णय वचन ही गुरुमुख वचन है। दो-दो चार गुरुमुख वाणी एवं गुरुवचन है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सदैव निर्णय वचनों पर ध्यान दो। रोचक, भयानक एवं महिमापरक वचनों पर ध्यान न दो। गुरुनिर्णय एवं गुरुवचन स्वरूपज्ञान का परिचय कराने वाले हैं। गुरुवचनों का पूर्ण पालन करने पर

---

1. यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः। मुंडकोपनिषद् 3/1/5।

जीव अपने स्वरूपस्थितिधाम में विश्राम पा जाता है। अतएव गुरुवचनों का फल है स्वरूपस्थिति; और स्वरूपस्थिति में मन-पक्षी का कभी प्रवेश नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि साधक जब तक स्मरणों का सर्वथा परित्याग कर स्वरूपस्थ रहता है, तब तक वहां मन की गति नहीं रहती; परन्तु जब वह समाधि से उठकर व्यवहार में लगता है, तब मन का व्यापार तो चलता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में मन की मलिनता न रहने से मानो मन का उपशमन ही रहता है। अर्थात उसके हृदय से अशुद्ध मन सर्वथा मिट जाता है। अभ्यासकाल में संकल्पहीनता तथा व्यवहारकाल में आसक्तिहीनता— यही स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति है। समाधिकाल में किसी प्रकार का मन नहीं रहता और व्यवहारकाल में अशुद्ध मन नहीं रहता। ऐसे स्वरूपस्थ पुरुष मानो मन से सदैव मुक्त ही हैं। अतएव "तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई" यह गुरुवचन प्रामाणिक और व्यावहारिक भी है।

"दूसर शब्द करो नहिं कान" यह वाक्यांश भी ध्यान देने योग्य है। यदि साधक रोचक, भयानक, महिमापरक, विषय-वासना-उत्तेजक, प्रपंचवर्द्धक साहित्य एवं वचनों को पढ़ता, सुनता एवं उनकी ज्यादा चर्चा करता है तो उसका हृदय सांसारिक वासनाओं से भर जायेगा और वह स्वरूपस्थिति का काम नहीं कर पायेगा। अतएव शांतिइच्छुक साधकों को प्रापंचिक वाणियों को छोड़कर गुरुवचनों एवं स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का ही मनन-चिन्तन करना चाहिए।

"औगह गहि के गगन रहाई" इस वाक्यांश का स्पष्ट विवेचन 'क' अक्षर के प्रसंग के अन्त में हो चुका है। वही अभिप्राय यहां समझ लेना चाहिए।

शरीराध्यास का त्याग मोक्ष में हेतु

घ

घघा घट बिनसै घट होई। घटही में घट राखु समोई॥
जो घट घटै घटहि फिरि आवै। घट ही में फिर घटहि समावै॥ 4॥

शब्दार्थ—घट=शरीर। समोई=शमन। घटै=आसक्त होय, देहासक्ति रचे। समावै=प्रविष्ट होना।

भावार्थ—घ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि एक शरीर के नष्ट होने पर पुनः दूसरा शरीर बनता है। अतः इस शरीर का अध्यास इसी शरीर में रहते-रहते नष्ट कर दो। परन्तु यदि विषयों की आसक्ति में पड़कर मन में शरीरासक्ति की रचना करोगे, तो शरीर में पुनः आना पड़ेगा, और

सूक्ष्म शरीर सहित माता के गर्भाशय रूपी घट में प्रविष्ट होकर पुनः शरीर बनेगा॥ 4॥

व्याख्या—एक शरीर जब छूट जाता है, तब कर्मों के जोर से पुनः दूसरा शरीर बनता है। इस प्रकार कर्माध्यासवश यह जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता चला जाता है, और इस भवसागर में भटकता रहता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल शरीर का नष्ट होना जरूरी नहीं है, किन्तु वासना का नाश जरूरी है। अतः सद्गुरु कहते हैं—"घटही में घट राखु समोई" अर्थात इस शरीर में रहते हुए शरीर की आसक्ति का ध्वंस कर दो।

यदि जीव घट में रहकर घटेगा, अर्थात शरीर में रहते हुए शरीराध्यास एवं विषयवासनाओं में क्षीण होगा, और विषयासक्ति की ही रचना करेगा, तो उसे पुनः घट में आना पड़ेगा। उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा।

उक्त पद में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है कि एक शरीर का नाश जीवनक्रम का अन्त नहीं है, अपितु जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता है। दूसरी बात है कि कहीं भी लौटने का कारण अवशेष वासना ही है। अंतिम तीसरी बात सद्गुरु की आज्ञा है कि शरीर में रहते-रहते शरीर की वासना का त्याग कर दो—"घटही में घट राखु समोई"।

जन्मांतरवाद एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसके बिना संसार का समाधान असंभव है। सद्गुरु कबीर जन्मांतरवाद के प्रबल पक्षधर हैं।

कहीं लौटने का कारण अवशेष वासना, इच्छादि हैं। हम बाजार जाते हैं, यदि सौदा पूरा लिये बिना ही किसी कारणवश घर लौट आते हैं, तो दूसरे दिन हमें पुनः बाजार जाना पड़ता है। जब तक हमारे खाने, भोगने, देखने, करने, पाने, शरीर में रहने आदि की वासना नहीं मिटती, तब तक हमें शरीर में आना ही पड़ेगा।

इसलिए सद्गुरु आज्ञा देते हैं कि हे मुमुक्षु! इस शरीर में रहते-रहते सारी वासनाएं नष्ट कर दो। यद्यपि ज्ञानी को भी जीवनपर्यन्त खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, लेना-देना तथा शरीर की सारी क्रियाएं करना पड़ता है; परन्तु वह केवल शरीर की रक्षा एवं निज-पर के कल्याण के लिए ही सारी क्रियाएं करता है। उसे कहीं भी आसक्ति नहीं होती।

देहाभिमानरहित वासना से एकदम छुटा हुआ जीवन ही अमृत जीवन है। यही परमानन्द है। यही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है। मनुष्य को इस अवस्था में पहुंचकर कृतार्थ होना चाहिए। सद्गुरु ने

अन्यत्र भी कहा है—"अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" (बसन्त 7)।

धैर्य सफलता की कुंजी

ङ

ङङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नैन रहै रतनाई॥
निमिष एक जो निरखै पावै। ताहि निमिष में नैन छिपावै॥ 5॥

शब्दार्थ—निरखत=देखते हुए। निमिष=पलक मारने भर का समय, पल, क्षण।

भावार्थ—ङ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! अपना लक्ष्य देखते हुए तुम्हारे रात-दिन बीतते जा रहे हैं; और देखते-देखते तुम्हारे नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं। किन्तु जिस एक क्षण में तुम्हें लक्ष्य की प्राप्ति होना संभव होता है, उसी में तुम अपने नेत्र बंद कर लेते हो॥ 5॥

व्याख्या—यहां नेत्र से देखने का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ न कर लक्षणा अर्थ करना चाहिए। अर्थात यहां कोई निरे चर्म-नेत्रों से देखने का अभिप्राय नहीं है। किन्तु अर्थ है कि साधक साधना में निरन्तर विलम्ब तक अथक श्रम करता है; परन्तु जब उसे सफलता मिलने का अवसर आता है, तब वह धैर्य छोड़ बैठता है।

कोई किसान खेत जोतता है, गोड़ता है, उसमें खाद-पानी डालता है, बीज डालता है, उसके बाद भी वह तीन-चार महीने तक उसकी कमाई, रक्षादि करता है, किन्तु यदि वह अंत में परिश्रम से घबराकर फसल को अंतिम पानी नहीं देता या उसकी बनैले पशु-पक्षियों एवं चोरों से रक्षा नहीं करता, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। बहुत काल तक अटूट परिश्रम करने पर भी लक्ष्य-प्राप्ति के पहले धैर्य छोड़ देने पर कार्य में सफलता नहीं हो सकती।

बहुत-से साधक इसी ढंग के होते हैं। वे थोड़े-थोड़े में घबराते हैं। वे कोई भी साधना शुरू करते हैं। तत्काल वांछित सफलता न मिलने के कारण उसे छोड़ बैठते हैं। यह उनके रजोगुणी स्वभाव एवं चंचलता का ही फल होता है।

ध्यान में बैठे, मन दो-चार बार भाग खड़ा हुआ, तो साधना छोड़ बैठे। अरे भाई! यदि मन बीस बार भागता है तो उसे इक्कीसवीं बार शांत करो। यदि वह सौ बार भागता है, तो एक सौ एकवीं बार उसे पकड़ो। धैर्य क्यों छोड़ते हो!

खेती, व्यापार, नौकरी, विद्याध्ययन, किसी कला का ज्ञान, स्वाध्याय, सेवा, साधना—किसी भी दिशा में सफलता तभी मिल सकती है जब न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक तब तक श्रम करता रहे जब तक सफलता न मिले।

भौतिक क्षेत्र की उपलब्धि के क्रम में तो यह भी है कि कभी-कभी पूर्ण परिश्रम करते रहने पर भी वांछित सफलता नहीं मिलती; किन्तु मानसिक शांति एवं स्वरूपस्थिति की सफलता में तो दो राय हैं ही नहीं। धैर्यपूर्वक सच्चाई से सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगने पर सफलता होगी ही।

ग्रहण में सब परवश हैं तथा त्याग में सब स्वतन्त्र हैं। हमें अमुक वस्तु चाहिए, इसमें परतन्त्र हैं; क्योंकि संसार की वस्तुएं नाना प्राणी, पदार्थों एवं परिस्थितियों के अधीन हैं। किन्तु हमें कुछ नहीं चाहिए, इसमें क्या परतन्त्रता है! त्याग में शांति है, और त्याग करने में सभी व्यक्ति सब समय स्वतन्त्र हैं। अतः त्याग-मार्ग की साधना में घबराना अज्ञान ही है।

सद्गुरु विशाल साहेब ने ठीक ही कहा है—जिसके स्मरण में, ध्यान में, आचरण में, निश्चय में सुख-ही-सुख है उस स्वरूपस्थिति में क्या घाटा पड़ रहा है जो साधक अन्य प्रपंच में अपना मन लगावे। यथा—

जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुखध्येय।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय॥

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक, साखी 112)

चेतन भौतिक चित्रों से भिन्न है

च

चचा चित्र रचो बड़ भारी। चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी॥
जिन्ह यह चित्र बिचित्र ह्वै खेला। चित्र छाड़ि तैं चेतु चितेला॥ 6॥

शब्दार्थ—चित्र=कल्पनाएं, वस्तु-प्राणियों की मान्यताएं। चित्रकारी=चेतन जीव। विचित्र=भौतिक एवं मानसिक चित्रों से भिन्न चितेरा। चितेला=चितेरा, चित्र रचने वाला चेतन जीव।

भावार्थ—जीव की कल्पना ने खानी-वाणी के बड़े भारी चित्र रचकर खड़ा किये हैं। चित्र-रचयिता हे चेतन! दृश्य-चित्रों को छोड़कर तू सावधान हो जा। जिस विचित्र चेतन ने खिलाड़ी बनकर इन चित्रों का खेल खेला है, वह तू ही है। हे चेतने वाले चेतन मनुष्य! चित्रों की आसक्ति त्यागकर तू जग जा॥ 6॥

व्याख्या—पति, पत्नी, बच्चे, घर, जमीन, धन, जाति, पांति, नाम, रूप, परोक्ष ईश्वर, देवी, देवता, भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन आदि की मान्यताओं के नाना चित्र बनाकर जीव उन्हीं में उलझ गया है। "चित्र रचो बड़ भारी" बड़ा मार्मिक वचन है। हम मान्यताओं के बड़े-बड़े चित्र बना लेते हैं और उन्हीं चित्रों में अपनी वास्तविकता को भूल जाते हैं। हमारे असली चेहरे पर इतने नकली चेहरे चिपक गये हैं कि हमें अपने असली चेहरे का भान ही नहीं है।

एक ही आदमी किसी का साला है तो किसी का जीजा, किसी का पुत्र है तो किसी का पिता-पितामह, किसी का मित्र है तो किसी का शत्रु। नाना नाम, रूप, वर्ण, आश्रम के चेहरे इस पर चिपक गये हैं।

मेरा चेहरा, मेरा रूप केवल ज्ञान है। शेष सब काल्पनिक हैं। मैं ब्राह्मण हूं, मैं शूद्र हूं, मैं साधु हूं, मैं गृहस्थ हूं, मैं जीजा हूं, मैं साला हूं—आदि में 'मैं' और 'हूं' के बीच में जो कुछ आ जाता है ब्राह्मण, शूद्र, साधु, गृहस्थ, जीजा, साला आदि सब नकली तथा झूठे हैं। 'मैं हूं' इतना सच है।

अहम और इदम—दो तत्त्व हैं। अहम चेतन है। अहम 'मैं' चेतन है तथा इदम 'यह' जड़ है। अहम चितेरा है तथा इदम चित्र है। चितेरा चेतन इदम के नाना चित्र बनाकर उन्हीं में शोक-मोह का अनुभव करता और भटकता है।

सद्गुरु कहते हैं "चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी" हे चित्र रचने वाला चेतन! तू चित्रों को छोड़ दे, और अपने आप में सावधान हो जा।

मन चित्रपट है। उसी में सारे चित्र अंकित रहते हैं। मैं चेतन हूं। मैं ही चित्रों की कल्पना करता हूं। उनके रूप मैं ही गढ़ता हूं। मैं ही उनमें नाना भावनाओं के रंग भरता हूं। मैं ही उन चित्रों को सामने ला-लाकर उनमें रीझता-खीझता हूं। मैं चित्रों से विचित्र, विलक्षण एवं सर्वथा भिन्न हूं। मुझे चाहिए कि मैं अपने चैतन्य-तख्त पर आसीन होकर शांत रहूं। जब चित्र सामने आवें तो उन्हें केवल देखकर उनसे उदास रहूं। उनमें मिलूं नहीं। चित्रों में उलझूं नहीं।

मन एक नदी है। उसके संकल्प-विकल्प उसकी तरंगें हैं। उसमें न बहना, किन्तु उससे बाहर बैठकर केवल उसको देखते रहना विवेकवान का काम है।

सद्गुरु कहते हैं, हे चित्रों के रचने वाले चितेरा चेतन! तू चित्रों को छोड़कर चेत जा! सारे चित्रों से अपना स्वरूप भिन्न समझ। खानी-वाणी के सारे चित्र तेरे कल्पित हैं। उनमें तू तदाकार मत हो। उससे अपने आप को अलग समझकर असंग हो जा। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

सम्हल कर बैठना जलवा मोहब्बत देखने वालों।
तमाशा खुद न बन जाना तमाशा देखने वालों॥

जीव ही सम्राट है

छ

छछा आहि छत्रपति पासा। छकि किन रहहु मेटि सब आसा॥
मैं तोहीं छिन छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आप बँधावा॥ 7॥

शब्दार्थ—छत्रपति=सम्राट, महाराजा, जीव। छकि=तृप्त। खसम=पति, मालिक, स्व-स्वरूप।

भावार्थ—छ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! सम्राट तो तेरे पास ही है। 'पास' भी कहना एक तरीका है। वस्तुतः तू ही सम्राट है। अतएव अन्य सारी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं अपने स्वरूपभाव में तृप्त हो रहे हो! मैं तुम्हें क्षण-क्षण समझा रहा हूं। तुम अपने पतित्व एवं श्रेष्ठत्व को छोड़कर, अपने आप को क्यों बंधनों में डाल रहे हो!॥ 7॥

व्याख्या—मेरी कोई मनोवांछित वस्तु हो और वह मेरे पास ही पड़ी हो, परन्तु उसे न समझकर मैं उसके लिए दरबदर की खाक छानता फिरूँ, तो यह मेरा केवल अज्ञान है। आदमी परमात्मा को, राम को, खुदा को, मोक्ष एवं परमानन्द को दरबदर खोजता फिरता है। वह नदियों, पर्वतों, तीर्थों, पोथियों, मत-मतांतरों की खाक छानता है। तो भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—'वह तो तेरे पास है'। 'पास' का अर्थ कोई यह न समझ ले कि अपने से अलग है। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि समझ ले तो पास में है और न समझे तो दूर है।

पास एवं निकट का मतलब है वह तू ही है। तेरे से पृथक कोई परमात्मा, राम, खुदा, गॉड नहीं है। इसीलिए इसके भावार्थ में वे कहते हैं—"छकि किन रहहु मेटि सब आसा" अर्थात सभी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं तृप्त हो जाते हो! सारी आशाओं-वासनाओं के छूट जाने पर ही वह दशा आती है जो कृतार्थरूप है। ईश्वर, परमात्मा एवं मोक्ष की आशा भी आशा ही है, और सभी आशाओं को मिटाने के क्रम में ऐसी आशाएं भी कैसे रह सकती हैं! आशाएं उन्हीं की की जाती हैं जो अपने से दूर के हों और जो अपने से दूर की वस्तुएं हैं, उनसे परम तृप्ति नहीं मिल सकती। इसलिए अपने से भिन्न वस्तुओं की आशा छोड़ देने की बात कही गयी है। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है—"केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश

पद, सुन वैराग्य निधान॥" संस्कृत के पंडितों ने कहा—"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्"। सारी आशाओं के छूट जाने पर ही साधक को परम तृप्ति मिल सकती है।

जीव अपना खसम अपने से अलग खोजता है। यही उसका अज्ञान है। सबका खसम तो जीव है, परन्तु वह अपनी महत्ता को नहीं समझ पाता है, इसलिए भटकता है। सद्गुरु कहते हैं—"मैं तोहीं छिन छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आपु बँधावा॥" मैं तुम्हें बारम्बार समझा रहा हूं कि तुम स्वयं सम्राट हो, तुम स्वयं सारे ज्ञान-विज्ञान रूप चित्रों के स्वामी हो। फिर तुम अपने स्वरूपभाव, स्वामीभाव को छोड़कर कैसे मन की मान्यताओं में अपने आप को बंधा रहे हो!

वासना-त्याग मोक्ष में कारण

ज

जजा ई तन जियत न जारो। जोबन जारि युक्ति तन पारो॥
जो कछु युक्ति जानि तन जरै। ई घट ज्योति उजियारी करै॥ ४॥

शब्दार्थ—जोबन=यौवन, जवानी। युक्ति=उपाय। पारो=करने में समर्थ होओ।

भावार्थ—ज अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! जीते जी इस शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। किन्तु जवानी का प्रमाद तथा कामादि वासनाओं को जलाकर शरीर से साधना करो। यदि वासनाओं की निवृत्ति का उपाय जानकर शरीर की आसक्ति जला दे, तो साधक इसी जीवन में ज्ञान-ज्योति से आलोकित हो जाये॥ ४॥

व्याख्या—सद्गुरु यहां तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। दूसरी बात है शरीर और जवानी का अंहभाव जलाकर साधना करो। तीसरी बात है कि यदि मनुष्य साधना करते हुए वासनाओं का त्याग करता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का आलोक मिल जाता है।

तपस्या और साधना में काफी अन्तर है। गरमी में अग्नि तापना, ठंडी में जलशयन करना, वर्षा में खुले आकाश में खड़ा रहना, लम्बा उपवास करना, नंगा रहना आदि कायाकष्ट उठाना तपस्या है। यह या तो प्रतिष्ठा पाने के लिए किया जाता है या अज्ञान में। इसका फल संसारियों से सम्मान पाना है और तपस्वी में अंहकार तथा दंभ का भरना है। महान दार्शनिक धर्मकीर्ति कहते

हैं—"वेदादि किसी पुस्तक को स्वतः प्रमाण मानना, जगत बनाने वाला कोई कर्ता होगा—यह मानना, किसी नदी में स्नान करने मात्र से धर्म की पूर्ति मानना, मानव में ऊंच-नीच जाति मानना और शरीर को संताप देकर पाप का नाश मानना—जिनकी बुद्धि मारी गयी है उनकी मूर्खता की ये पांच निशानियां हैं।"[1]

साधना है इन्द्रिय और मन पर विजय पाने का प्रयास। इसमें मैथुन, मोहादि भोगों का त्याग तो होता है, किन्तु शुद्ध सात्त्विक एवं संतुलित आहार, विहार, व्यवहार लेते हुए सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन आदि द्वारा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास चलता है। संसारी विषय-भोगी होता है। तपस्वी शरीर को संताप देने वाला होता है। किन्तु साधक बीच का रास्ता पकड़ता है। वह न भोगी होता है और न काया-पीड़क। वह भोगों से विरत होकर, मध्यवर्तीय भोजन-वस्त्र लेते हुए आराम से रहता है और स्वाध्याय, चिंतन तथा ध्यान से वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है।

सद्गुरु कबीर मध्यममार्गी हैं। संसार के सभी साधक इसी पथ से कल्याण पाते हैं। महात्मा बुद्ध ने अनजान में घोर तप किया, परन्तु जब उन्हें अपनी भूल का परिचय हुआ तब वे भी इसी मध्यममार्ग पर आ निकले।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधक इस शरीर को पीड़ा न दे। किन्तु इसके अंहकार का त्याग करे। जवानी एवं शरीर की उष्मा को, हृदय में रही हुई एषणा, चाह एवं लिबिडो को न तो जला दे न इन्द्रियों के मलिन भोगों में खर्च करे, किन्तु उनका मार्गांतरीकरण कर दे। उनके रास्ते को बदल दे। उन्हें वासना-निवृत्ति, स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में एवं अपने और दूसरे के कल्याण-कार्य में लगा दे। यदि साधक घोर तप द्वारा शक्ति को न जलाकर, केवल विषय-वासनाओं को जलाता है और अपने तन तथा मन की शक्ति से साधना करके सत्पथ में चलता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का प्रकाश मिलता है। शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को एक ही उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति में लगा देने से साधक का हृदय शीघ्र ही ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो जाता है।

कूचर-कायर साधक ही असफलता का रोना रोते हैं। अपने लक्ष्य में पूर्ण समर्पित साधक शीघ्र ही अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं।

---

1. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये॥
(प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति 1/342)

बाहर ढूंढ़ना छोड़ो

झ

झझा अरुझि सरुझि कित जान। अरुझनि हींड़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जो गढ़ गढ़ै गढ़ैया सोपावै॥ 9॥

शब्दार्थ—हींड़त=खोजते हुए। सुमेरु=पर्वत। गढ़=किला; वासना, अध्यास। गढ़ैया=जीव।

भावार्थ—झ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम उलझते-सुलझते हुए कहां जा रहे हो! अपना लक्ष्य खोजते हुए उलझन में ही तुम्हारे प्राणपखेरू उड़ जायेंगे। तुम सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में अपना लक्ष्य खोजकर लौट आओ, तो भी उसे न पाओगे। हां, यह जीव वासनाओं का जो किला गढ़ लेता है, उसी में बन्द हो जाता है॥ 9॥

व्याख्या—अरुझना फंसने को कहते हैं और सरुझना छूटने को। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, घर, काम, क्रोध आदि मोटी माया में यदि कोई उलझा हुआ है तो इसे सभी लोग मानते हैं कि यह आदमी फंसा है। परन्तु यदि कोई देवी-देवताओं तथा परोक्ष ईश्वरादि की उपासना में लगा है, तो इसे लोग सुलझना मानते हैं। सद्गुरु कबीर इसको भी अंततः उलझना ही मानते हैं। अपने स्वरूपभाव को छोड़कर जीव जहां कहीं भी लगता है, सब उलझन ही है। इसीलिए वे कहते हैं—"अरुझि सरुझि कित जान" अर्थात उलझ-सुलझकर कहां जा रहे हो? तुम स्वरूपभाव एवं आत्मभाव को खोकर चाहे जितना भी धर्म-कर्म एवं ईश्वर-ब्रह्म कह लो, सब उलझन है। सबसे बड़ी गलती तुम्हारी यह है कि तुम अपने लक्ष्य को बाहर खोजते हो। यह निश्चित समझ लो कि खोजते-खोजते तुम्हारे प्राण समाप्त हो जायेंगे, परन्तु तुम छूंछे ही रह जाओगे। जीव का परम लक्ष्य तो उसका अपना स्वरूप ही है। वह बाहर खोजने का विषय ही नहीं है। उसे तो सत्संग एवं विवेक द्वारा समझना है।

अतएव कोई परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, राम, रहीम आदि नाम लेकर चाहे उसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में खोजे, तीर्थों और मंदिरों में खोजे, वह कहीं नहीं मिलेगा। क्योंकि वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। हां, इन भटकावों का फल यही होगा कि नाना भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं एवं वासनाओं का मन में एक किला बन जायेगा और जीव उसी में बन्द हो जायेगा।

परमात्मा को बाहर खोजने वाले इतने जड़ीभूत हो जाते हैं कि वे हर समय अपने मन से बनाये हुए परमात्मा के चित्र के सपने देखते रहते हैं। इस

अलीक धारणा से उन्हें आरम्भ में सात्त्विकता अवश्य प्राप्त होती है; किन्तु आगे चलकर यह भ्रम उनके स्वरूपज्ञान-पथ का रोड़ा हो जाता है।

चाहे अशुभ हो या शुभ जहां तक मनःकल्पनाओं का जाल है, सब बंधन ही है। मन का साक्षी चेतन ही अपना स्वरूप है।

इस सन्दर्भ में सद्गुरु मुख्य दो बातें बताते हैं। पहली बात है अपना लक्ष्य बाहर ढूंढ़ने की वस्तु नहीं है। उसे तुम जितना ही बाहर ढूँढ़ते हो उतना ही उलझते हो। दूसरी बात है कि तुम अंत में वही पाओगे जिसकी वासना बना लिये हो। तुम अपने ही कर्मजाल में बंधते रहते हो।

अतएव सद्गुरु का निर्देश है कि बाहर ढूंढ़ना छोड़कर अपने स्वरूप को समझो तथा सांसारिक वासनाएं त्यागकर स्वरूपस्थिति प्राप्ति करो।

शून्य की ओर मत दौड़ो, अपने आप को पहचानो

ञ

ञञा निग्रह सनेहू। करु निरुवार सन्देहू॥
नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू॥
जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ॥
जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी। जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥ 10॥

शब्दार्थ—निग्रह=निवारण, त्याग। सनेहू=स्नेह, मोह। सयानप=बुद्धिमानी, श्रेष्ठता। आपु भजाऊ=स्वयं भागा जाना।

भावार्थ—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! संसार के मोह का त्याग कर और मन में रहे हुए संदेहों का निवारण कर! विवेक से देखने पर, जो कुछ नहीं ठहरता, उसके पीछे न दौड़ना, यही परम बुद्धिमानी एवं श्रेष्ठता है। परन्तु यह विमोहित मानव जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां स्वयं दौड़ा जाता है। जहां कुछ सार नहीं है, वहां अपने शरीर तथा मन को अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां इसने सब कुछ समझ लिया है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जहां है, वहां परख ले॥ 10॥

व्याख्या—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु ने कैसा मार्मिक उपदेश दिया है, यह सोचते ही बनता है। उनकी इसमें पहली बात है कि मोह का त्याग करो। मोह एक ऐसा विकार है जो मनुष्य को सत्य से सदैव दूर रखता है। मोही आदमी मूढ़ होता है। व्यक्ति, वस्तु, मान्यता, मत, मजहब, ग्रन्थ, गुरु आदि में जहां कहीं भी मनुष्य को मोह हो जाता है, फिर वह उसके तथ्य को

नहीं समझना चाहता। मोह ही वह रस्सी है जिसमें बंधकर जीव जगत-नगर का टट्टू बनकर लादी लादता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि अपने मन को मोह से मुक्त कर लो, तब तुम सत्य और असत्य समझने में समर्थ हो सकोगे।

दूसरी बात है, अपने मन से सारे संदेहों का त्याग करो "करु निरुवार सन्देहू।" संदेह मन का वह विकार है जो मनुष्य को स्थिर नहीं होने देता। समझ की कमी सारे मानसिक विकारों का कारण है, किन्तु संदेह के मूल में एक मुख्य कारण है निर्णय की क्षमता का अभाव। जिसमें निर्णय की क्षमता होती है वह शीघ्र ही संदेहों से मुक्त हो जाता है। पक्षपात और मोह के कारण मनुष्य निर्भयतापूर्वक न सोच पाता है और न निर्णय ले पाता है। संदेह में पड़ा हुआ आदमी कहीं नहीं पहुंचता। आरम्भ में संदेह ठीक है। संदेह से ही उसे निवारण करने के लिए प्रयास आरम्भ होता है। परन्तु यदि वह जीवन ही संदेहों में बिता रहा है तो उसको मंजिल कब मिलेगी! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि निर्मोह होकर संदेहों का त्याग करो।

सद्गुरु तीसरी बात कहते हैं "नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू॥" अर्थात जो विवेक से कुछ नहीं ठहरता उसके पीछे न भागे, यही परम बुद्धिमानी है। ये बातें कितनी मार्मिक, कितनी तथ्यपूर्ण हैं, सोचते ही बनता है।

खानी और वाणी दोनों के पसारा देखो, तो इसमें से तुम्हारे हाथों में अंत में क्या लगता है! परिवार, सम्बन्धी, धन, मकान, प्रतिष्ठा तथा अन्ततः शरीर तक, क्या साथ में चलता है? क्या रह जाता है जीव के साथ? फिर उनके पीछे पागल होकर दौड़ने का फल बुरा नहीं तो क्या है! यह तो खानी जाल की बातें हुईं। अब जरा वाणी के पसारा को देखो। नाना देव-गोसैंया, स्वर्ग-नरक की कल्पना कर जीव उनके पीछे पागल बने भटकते हैं। परन्तु न वे चर्म-नेत्रों से कुछ दिखते हैं और न विवेक से कहीं ठहरते हैं। संसार के अधिकतम लोग इस उलझन में पड़े हुए भटक रहे हैं।

कबीर साहेब यथार्थवादी चिन्तक हैं। वे कहते हैं कि जहां कुछ दिखाई न दे, वहां दौड़ा न जाये। यही मनुष्य की परम बुद्धिमानी है। लोगों की देखादेखी में दौड़ना मूढ़ता है। स्वयं विवेक-नेत्रों से सारी चीजों को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेकवान परखकर ही कदम उठाते हैं, किन्तु मूढ़ आदमी केवल विश्वासी होता है। वह विमोहित होकर जहां-तहां दौड़ता रहता है।

सद्गुरु चौथी बात कहते हैं—"जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ॥ जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी।" यहां मिथ्या अवधारणों में भटकने वालों को सद्गुरु तीन वाक्यों में झकझोरते हैं—'जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां दौड़ा जा रहा है। जहां कुछ नहीं है वहां अपने तन-मन अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां तूने सब कुछ समझ लिया है।' यहां कबीर साहेब मिथ्या मान्यताओं एवं क्षणभंगुर पदार्थों के पीछे भटकने वाले मनुष्यों को बारम्बार टोकते हैं।

सचमुच मनुष्य जीवनपर्यन्त शून्य में दौड़ता रहता है। जैसे कोई पागल आदमी आकाश में हाथ-पैर मारते-मारते स्वयं थककर गिर पड़े, वैसे विमोहित मानव जीवनपर्यन्त मिथ्या अवधारणाओं एवं क्षणभंगुर माया-मरीचिका के पीछे दौड़ते-दौड़ते अपना अन्त करता है और संसार से निराश होकर चल देता है। जहां जीव का कुछ नहीं है, उसने वहीं अपना सर्वस्व मान बैठा है। इससे अधिक विमोह क्या होगा!

इसलिए सद्गुरु अंतिम पांचवीं बात बताते हैं—"जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥" जहाँ 'है' वहाँ पहचान ले। 'है', 'होना', 'अस्तित्व' बड़े महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं। तुम्हारा 'होना', तुम्हारा 'अस्तित्व' कहां है? साफ है 'मैं' में ही तुम्हारा 'अस्तित्व' है। 'मैं' को छोड़कर 'मेरा' अस्तित्व कहां हो सकता है!

मनुष्य की सबसे बड़ी गलती यही है कि वह ईश्वर-ब्रह्म को खोजता है, स्वर्ग-नरक के विषय में माथा मारता है, विषयों में सुख ढूंढ़ता है, परिवार, धन, मकान, मान-बड़ाई सारी बाह्य वस्तुओं में 'स्वत्व' और 'सुख' ढूंढ़ता है, किन्तु 'मैं कौन हूं' इसकी परख कभी नहीं करता। परन्तु मैं को जाने तथा पाये बिना बाहर का सब जानना तथा पाना निरर्थक है। महात्मा ईसा ने कहा है, जिसने सब कुछ पाया, परन्तु अपने आप को खो दिया, वह क्या पाया!

सद्गुरु कहते हैं "जहाँ है तहाँ ले पहिचानी' जहां तेरा स्वत्व एवं अस्तित्व है वहां पहचान ले, परख ले। तेरा स्वत्व, तेरा अस्तित्व तेरे 'मैं' में है। अतः तू अपने 'मैं' को समझ!

मैं के दो रूप हैं, एक भौतिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा उसके नाम-रूप में जहां तक मैं-भाव है, वह मायिक है। अतएव वह मैं एक मिथ्या अहंकार है, बंधन है। दूसरा मैं अपने शुद्ध चेतनस्वरूप के लिए है। यह तथ्य है, सत्य है। इस चेतन 'मैं' में ही मेरा अपना 'स्वत्व' है, 'सत्ता' है। 'मैं' से 'मैं' कभी पृथक नहीं हो सकता, और 'मैं' से पृथक वस्तुएं कभी मेरी नहीं हो

सकतीं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जहां तेरा कुछ नहीं है, वहां से तू हट जा, और जहां तेरा है, वहां परख ले। 'नहीं' से हटकर 'है' में स्थित हो जा। 'नहीं' कभी 'है' नहीं होगा, और 'है' कभी 'नहीं' नहीं होगा। यहां नीति का वचन भी स्मरण में आता है कि जो व्यक्ति निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित वस्तु को पकड़ता है, उसने तो निश्चित को स्वयं छोड़ दिया और अनिश्चित छूट ही जायेगी।

सार यह है कि मोह का त्याग करो, संदेह को दूर करो और अपनी आत्मा के अलावा सब झूठा है, उसके राग से हटकर, अपनी आत्मा में, अपने चेतनस्वरूप में स्थित होओ। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा स्वत्व है, परम निधान है, सुख का केन्द्र है। जहां से सबकी परख होती है, वह चेतनसत्ता ही मैं के रूप में विद्यमान है। उसी को विवेकी संत पारख रूप एवं ज्ञानरूप कहते हैं। वही तुम्हारा अपना है। शेष सब झूठा है।

अज्ञान के कपाट खोलो

ट

टटा बिकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल मों जाहीं॥
रही लटापटि जुटि तेहि माहीं। होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं॥ 11॥

शब्दार्थ—कपाट=किवाड़, फाटक, अज्ञान। महल=स्वरूपस्थिति। लटापटि=जिस किसी प्रकार।

भावार्थ—ट अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन के बड़े टेढ़े रास्ते हैं। कोई अज्ञान के फाटक को खोलकर स्वरूपस्थिति-महल में जा सकता है। साधक को चाहिए कि जिस किसी प्रकार स्वरूपस्थिति-धाम तक पहुंचे। जब यह जीव स्वरूपस्थिति-धाम में अटल हो जाता है, तब इसके पतित होने का अवसर नहीं रहता॥ 11॥

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं। इन पर हम मनन करें।

पहली बात है "बिकट बाट मन माहीं" अर्थात मन के रास्ते टेढ़े हैं। मन ऐसा भुलावन वन है कि उससे सतत सावधान रहने लायक है। अच्छी बातों का स्मरण करते-करते मन बुरे स्मरणों में पहुंचा देता है। जैसे रेलवे जंक्शन में विभिन्न दिशाओं की पटरियां एक में जुड़ी रहती हैं; थोड़ा प्वाइंट बदलते ही गाड़ी इधर से उधर चली जाती है, वैसे मन में शुभ और अशुभ, राग और वैराग्य आदि के संस्कार एक साथ जुड़े हैं। जरा-सा असावधान होते ही मन

जीव को स्वर्ग से हटाकर नरक में पहुंचा देता है। सारे भवबंधन स्मरण मात्र हैं। साधक को चाहिए कि वह सदैव सावधानी से स्मरणों को देखे और गंदे स्मरण न होने दे। यदि मन में गंदे स्मरण आ गये हों, तो उन्हें तुरन्त शत्रुवत समझकर त्याग दे। अतएव साधक इस बात पर सदैव सावधान रहे कि मन के बड़े टेढ़े-टेढ़े पथ हैं। उनसे अपने आप को सदैव बचाना है।

दूसरी बात है "खोलि कपाट महल मों जाहीं" अर्थात अज्ञान का फाटक खोलकर ही स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंच सकते हैं। लोग स्वरूपस्थिति-धाम, मोक्ष, आत्यंतिक सुख, परमानन्द एवं कृतार्थ अवस्था में पहुंचना तो चाहते हैं, किन्तु अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ने में असमर्थ होते हैं। उन्हें अज्ञान में ही मोह होता है। बंधनों से मोह करके कोई कैसे मोक्षपद पा सकता है! अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बंधनों से मोह न करो। अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ो। अज्ञान से मोह करते-करते युगों बीत गये। अब इनसे ऊपर उठ जाओ। रास्ता केवल एक है। यदि जीवन में दुखनिवृत्ति एवं परम शांति चाहते हो, तो हृदय की विषय-वासनात्मक कमजोरियों को दूर करो। विषयासक्ति हृदय का कपाट है जिसे तोड़कर स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंचा जाता है।

तीसरी बात है "रही लटापटि जुटि तेहि माहीं"। लटापटि का अर्थ है गिरता-पड़ता, ढीला-ढाला, सरकता हुआ इत्यादि। साधक पहले गिरता-पड़ता ही चलता है। कोई तुरन्त पहलवान नहीं हो जाता। अखाड़ा में गिरते-पड़ते ही किसी दिन पहलवान हुआ जा सकता है। साधक पहली साधना में यदि समय-समय से असफल हो जाये तो उसे घबराना नहीं चाहिए। यदि वह अपने उद्देश्य में दृढ़ है तो आज नहीं, कल; अपने लक्ष्य पर पहुंचेगा ही। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—"मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोस। कहहिं कबीर बैठा रहे, ता सिर करड़े कोस।" जो मार्ग चलते-चलते गिर पड़ता है उसको दोष नहीं दिया जा सकता। जो चलता है वही गिर भी सकता है। यदि गिरता है तो उठकर फिर चलेगा। दोष तो उसे है जो बैठा रहता है। उसका तो सारा रास्ता अभी पड़ा है।

शास्त्र कहता है "यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।"[1] अर्थात जिस किसी भी प्रकार जड़-चेतन की ग्रन्थि को काट देना ही मनुष्य का मुख्य पुरुषार्थ एवं प्रयोजन है। अतएव असफलता के भय से काम ही न शुरू करना केवल कायरता है। किसी ने कितना अच्छा कहा है—

---

1. सांख्य दर्शन 6/70।

गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वे तिफ़्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें॥

अर्थात युद्धक्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही कभी गिरते हैं। वे बालक क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलते हैं।

चौथी बात है "होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं" अर्थात जब साधक संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति-धाम का स्थायी बासिंदा हो जाता है, तब उससे उसे गिरने का कोई चांस नहीं रहता।

"पक्का बोध और स्थिति" यह कोई कच्ची गोटी का खेल नहीं है। इसको उपलब्ध साधक अजर-अमर हो जाता है। शरीर कूड़ा-कचड़ा है, विजाति है और अंततः शून्य में बदल जाने वाला है; इसके शून्य होते ही, इसके सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों का पता नहीं रहेगा। इसके विपरीत अपना शुद्ध चेतनस्वरूप निर्विकार, निर्मल, एकरस, अमृतरूप है। उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हो सकता। इस बोध के साथ जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी और वह स्थिति एकरस हो गयी, ऐसा साधक किस वस्तु के लिए लालचकर पतित होगा! यह जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। यह स्वरूपस्थिति जीवन का अमृत-रस भोग है, जो कभी घटने तथा बिछुड़ने वाली नहीं है। सम्राट बनकर कौन घूर पर दाने बीनेगा! स्वरूपस्थिति का अमृत-रस चखकर कौन मलिन, दुखप्रद, क्षणभंगुर विषयों के पीछे दौड़ेगा! अतएव सद्गुरु का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है कि अपने स्वरूप में अटल स्थित हुआ पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं भटकता।

मन की ठगाई से सावधान

ठ

ठठा ठौर दूर ठग नियरे। नित के निठुर कीन्ह मन घेरे॥
जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौरपहिचाना॥ 12॥

शब्दार्थ—ठौर=स्वरूपस्थिति, पारखस्थिति। ठग=मन। निठुर=कठोर।

भावार्थ—ठ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि जीव की अपनी स्वरूपस्थिति दूर हो गयी है, क्योंकि उसके निकट मन-ठग निरन्तर बसा हुआ है और उसने जीव को चारों ओर से घेरकर विषयों में कठोर कर दिया है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! जिस मन-ठग ने बड़े-बड़े बुद्धिमानों, विद्वानों एवं ज्ञानियों को भी ठग लिया है, उसे परखकर उससे बच और अपनी स्वरूपस्थिति रूपी ठौर पहचान॥ 12॥

व्याख्या—मन बड़े काम की चीज है। जहां मन की निंदा की जाती है कि वह ठग है, वहां अशुद्ध मन का अर्थ होता है। मन के दो प्रकार हैं। एक अशुद्ध और दूसरा शुद्ध। अशुद्ध मन जीव के लिए बंधन उपस्थित करता है तथा शुद्ध मन उसके मोक्ष में सहायक होता है। उक्त पंक्तियों में मन को ठग कहा गया है। यहां अशुद्ध मन का अभिप्राय है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी मंजिल तुम्हें इसलिए दूर लगती है क्योंकि अशुद्ध मन ने तुम्हें चारों ओर से घेर लिया है। जो मलिन मन का निरंतर सेवन करता है, उसका हृदय विषयों में पड़ा-पड़ा कठोर हो जाता है। जिसके मन में निरंतर मलिन विषयों की वासनाएं भरी हैं, उसके मन में अपना ठौर, अपनी मंजिल, अपनी स्थिति का आभास कहां हो सकता है!

सद्गुरु कबीर की दृष्टि सदैव स्वरूपज्ञानपरक है। वे कहते हैं कि जीव का ठौर जीव से बाहर किसी लोक-लोकांतर में नहीं है। ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सतलोक, विष्णुलोक, शिवलोक कहीं बाहर नहीं है। ये यदि कुछ हैं तो केवल जीव की स्वरूपस्थिति ही। यदि किसी को लगता है कि अपना ठौर, अपना मोक्ष-धाम कहीं दूर है, तो इसका मतलब यही है कि उसे मन-ठग ने ठग लिया है। मन के भुलावे में पड़कर ही हम अपनी स्वरूपस्थिति से पृथक अपना ठौर, अपना परम निधान खोजते हैं।

सद्गुरु बड़ी मार्मिक बात कहते हैं "जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौर पहिचाना॥" अर्थात जिस मन-ठग ने बड़े-बड़े सयानों को ठग लिया है उस मन के बन्धनों को पहचानो और अपना स्थान समझो कि कहां है।

पुराकाल से लेकर आज पर्यन्त बड़े-बड़े विद्वान एवं ज्ञानी-ध्यानी मन के चक्कर में पड़े हुए भटक रहे हैं। वे अपनी स्थिति किसी परोक्ष शक्ति तथा परोक्ष लोक में मान रहे हैं। नित्य अनुभूत, स्वयं प्रत्यक्ष अपने दिव्य चेतनस्वरूप तथा उसकी स्थिति को न समझना और अपने से बाहर किसी कल्पित ईश्वर-ब्रह्म की भावना में डूबे रहना, मन-ठग द्वारा ठगा जाना ही है।

आश्चर्य है कि संसार के बहुत-से तथाकथित ज्ञानियों ने जीव को तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास, अंश आदि कहकर उसका निरादर किया है, जबकि वह परम सत्य है, स्व है, अपने आप 'मैं' के रूप में विद्यमान स्वयं प्रत्यक्ष है। लोगों ने उससे पृथक ईश्वर-ब्रह्म मानकर उसकी बड़ाई की है जो केवल जीव की कल्पना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े सयाने, विद्वान एवं ज्ञानी कहलाने वाले लोग मन-ठग से ठगा गये हैं। हे सत्य इच्छुक! ऐसे मन के जाल को परखकर उसका त्याग कर और अपने ठौर को पहचान। तुम्हारा ठौर, तुम्हारा परम धाम, ब्रह्म-धाम, राम-लोक, खुदा-तख्त तुम्हारा अपना चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। स्वरूपपस्थिति ही तुम्हारा परम निधान है।

डर एक मानसिक कल्पना है, उसे त्यागो

ड

डडा डर उपजे डर होई। डर ही में डर राखु समोई॥
जो डर डरै डरहि फिर आवै। डरही में फिर डरहि समावै॥ 13॥

शब्दार्थ—समोई=नाश।

भावार्थ—ड अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन में भय उत्पन्न होने से भय का अस्तित्व होता है। अर्थात भय एक भावना मात्र, कल्पना मात्र है। अतएव भय को भय में ही समाप्त कर दो। अर्थात भय को कल्पना मात्र समझकर वहीं उसे छोड़ दो। जो व्यक्ति भय से भीत होकर आक्रांत होता है, वह बारम्बार भय का शिकार होता है। वह भय में जीवन बिताता है; और अन्त में भय के स्थान-मूल शरीर को पुनः धारण करता है॥ 13॥

व्याख्या—शकुन-अपशकुन का डर, ग्रह-लगन का डर, भूत-प्रेत का डर, जादू-मंत्र का डर, स्वजन एवं मित्रों के विमुख हो जाने एवं बिछुड़ने का डर, अपमान-अप्रतिष्ठा होने का डर, नौकरी छूट जाने एवं व्यापार में घाटा हो जाने या बन्द हो जाने का डर, रोग लगने का डर, मृत्यु होने का डर—कहां तक गिनाया जाये, जीव के मन में डर का एक विशाल जाल बिछा रहता है।

कितने दम्पती को बच्चे नहीं होते। उन्हें डर रहता है कि बुढ़ापा में हमारी सेवा कौन करेगा! अतः वे किसी दूसरे के बच्चे को गोद लेते हैं। वे न हुआ दुख खरीदते हैं। अपने पैदा किये हुए बच्चे तो प्रायः सेवा नहीं करते, दूसरे के बच्चों से लोग सेवा की आशा करते हैं। यह एक मूढ़ता नहीं तो क्या है! लोग सबेरे बिस्तर पर जागने के साथ ही भय लेकर उठते हैं और अपने जाग्रत के सारे व्यवहार में भय से ग्रस्त रहते हैं। इसके फल में लोग सपने में भी भयभीत रहते हैं।

लोग कहीं चलेंगे, तुरन्त एक्सीडेंट हो जाने का भय सवार हो जायेगा। बच्चे को स्कूल से आने में थोड़ी देरी हुई कि मन भयाक्रांत हो गया कि कोई

एक्सीडेंट तो नहीं हो गया। लोगों के मन में अपनों से डर रहता है, दूसरों से डर रहता है। यहां तक कि स्वयं द्वारा की गयी गलतियों की यादों का डर सताता रहता है।

सारे भय भावना मात्र हैं। इन्हें त्याग देने से अपनी कोई हानि नहीं होती है, किन्तु त्यागने में ही सच्चा लाभ है। प्रायः सभी लोग एक्सीडेंट के भय से जीवनपर्यन्त भयभीत रहते हैं और जीवन बीत जाता है निन्यानबे प्रतिशत से अधिक लोगों का कोई एक्सीडेंट नहीं होता। सबका जीवन चलता है। सबके लड़की-लड़कों की शादी होती है। सब खाते-पीते गुजर करते हैं। हाय-तोबा करते रहना तो मूर्खता ही है।

एक बार मैंने एक सज्जन से पूछा—'भक्त जी! आप को किसी प्रकार की चिंता तो नहीं है?' उन्होंने कहा—'मुझे एक प्रकार का भय कभी-कभी सताता है कि किसी रात को घर पर डाकू न आ जायें। यद्यपि मेरे घर में कोई खास रुपये-पैसे नहीं रहते; परन्तु लोगों में शाहेरत तो है ही।' मैंने उनसे कहा—'यह भय कब से सताता है?' उन्होंने कहा—'करीब बीस-पचीस वर्षों से।' मैंने कहा—'इतने दिनों से भय का दुख आप भोग रहे हैं, किन्तु डाकू तो कभी नहीं आये।' उन्होंने कहा—'हां, आये तो नहीं।' मैंने कहा—'आप भय छोड़ दीजिए। हो सकता है पूरा जीवन बीत जाये और आपके घर कभी डाकू न आयें और जब डाकू आयेंगे, तब वे मिनटों में अपना काम करके चले जायेंगे। उसी समय जितना दुख होगा, आप सह लीजियेगा। पहले से, रोज-रोज न हुआ दुख क्यों सहते हैं।' वे इस बात को समझ गये। उन्होंने भविष्य में कभी भी ऐसा भय नहीं किया। इसके बाद वे बीस वर्ष तक जीकर मृत्यु को प्राप्त हुए; परन्तु उनके जीवन में उनके घर कभी डाकू नहीं आये।

मनुष्य को चाहिए कि सम्भावित कल्पित अप्रिय घटनाओं का भय छोड़ दे, फिर वह सदैव सुखी रहेगा। जब कोई अप्रिय घटना घटेगी, तभी उसे झेल लिया जायेगा। उसके लिए पहले से ही पचना अज्ञान है। जब कोई समस्या आती है तब उसमें से ही समाधान का सूत्र निकल आता है। व्यापार या नौकरी छूटने पर तथा खेत डूब जाने पर जीवन-निर्वाह का नया धन्धा मिल जाता है, और कभी-कभी तो पहले से भी बेहतर!

छोटी-सी जिन्दगी, इस मिट्टी के पिंड को निभाने के लिए इतना भय क्यों! वस्तुतः स्वरूप का ज्ञान न होने से शरीर को सत्य मान लिया जाता है और उसके नाम-रूप में आसक्ति हो जाती है। यही सारे भय का मूल है। अतएव अज्ञान के निवृत्त होने पर भय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

सबसे ज्यादा डर मरने का है जो होना ही है। यदि अमर जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है तो मरने पर सब समाप्त हो जायेगा, फिर डर किसका! और यदि जीव अमर है तो मरने का डर व्यर्थ है। हम रोज सोते हैं। एक दिन ऐसा सोयेंगे कि पुनः नहीं उठेंगे। जब छोटी नींद हमें प्यारी है, तब बड़ी नींद तो अधिक प्यारी होनी चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि सारे भय दूर कर दो। यदि देहाभिमान बनाये रखोगे तो सदैव डरते रहोगे, और इसका फल होगा पुनः शरीर में आना। अतएव देहासक्ति त्यागो। अपने अविनाशी स्वरूप के ज्ञान में रमो। निर्भय विचरो।

पहली बात, जब हम जीने से नहीं डरते जो उलझनों से भरा होता है, तब मरने से क्यों डरना चाहिए, जिसमें केवल शांति है।

अपने लक्ष्य को बाहर मत ढूंढ़ो

ढ

ढढा हींड़त ही कित जान। हींड़त ढूँढ़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जेहि ढूँढ़ा सो कतहुँ न पावै॥ 14॥

शब्दार्थ—हींड़त=खोजते। सुमेरु=सुमेरु पर्वत, जिसकी पुराणों में बड़ी चर्चा है। इसे इलावृत्तवर्ष में अवस्थित माना है। यहां तात्पर्य है बड़े-बड़े पर्वत या बीहड़ स्थल।

भावार्थ—ढ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम अपने लक्ष्य को खोजते हुए कहां जा रहे हो? खोजते-भटकते तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में भी तुम खोजकर लौट आओगे, परन्तु जिसकी तुम्हें खोज है, उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे॥ 14॥

व्याख्या—जो लोग भगवान को, राम को, ब्रह्म को, मोक्ष को अपने से बाहर खोजते हैं, उन्हें कबीर साहेब बार-बार चेतावनी देते हैं कि तुम्हारा उसे बाहर खोजना महा भ्रम है। बाहर हींड़ते-ढूंढ़ते मर जाओगे, परन्तु उसे कहीं नहीं पाओगे। मनुष्य का यह मिथ्या भ्रम है कि वह जहां पर उपस्थित रहता है वहां अपने लक्ष्य को पाने में निराश रहता है। उसे लगता है यहां क्या मिलेगा! परन्तु दूर देश के लिए उसके मन में आशा बंधती है कि वहां जरूर परमात्मा या मोक्ष मिल जायेगा। किन्तु वह मनुष्य का लक्ष्य नहीं हो सकता जिससे देश और काल की दूरी हो। यदि परमात्मा या मोक्ष दूसरे देश या दूसरे काल में मिलेगा ऐसी धारणा हो, तो यह केवल भ्रम है। मनुष्य जहां खड़ा है,

वहीं उसका लक्ष्य प्राप्त होगा। प्राप्त होना नहीं है, किन्तु केवल स्मृति में आना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम करोड़ों पर्वतों, बीहड़ स्थानों, तीर्थों, धामों एवं दूसरे लोकों में भी भटक आओ, परन्तु तुम्हें जिसकी तलाश है उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे। वह तो तुम स्वयं हो। परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है। राम ही राम को खोज रहा है। परम पारखी संत विशाल देव कहते हैं—"जेहि को खोजत सो हौं खुद ही, यह नहिं जानि पहै।"

चलकर, खोजकर मन और इन्द्रियों द्वारा जो प्राप्त होते हैं, वे मायावी वस्तुएं होती हैं। मन एक दूरबीन है। उसके पीछे जीव है तथा आगे जगत है। जब जीव इस दूरबीन से आगे देखता है, तब जगत दिखाई देता है, और जब दूरबीन से देखना छोड़ देता है, तब स्वयं को देखता है। अर्थात तब उसे स्व-सत्ता का भान होता है। अतएव हम मन द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं, वह सब दृश्य, जड़ जगत है। हमें अपने को पाने के लिए मन का दृश्य छोड़ना होगा। इस विवेक से देखा जाये तो अपने लक्ष्य को बाहर खोजने वाले मन के दृश्यों में ही दौड़ रहे हैं।

जो लोग सुख, मोक्ष तथा परमात्मा बाहर खोजते हैं वे मन के पीछे दौड़ने वाले भूले लोग हैं; और संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। संसार के बड़े-बड़े विद्वानों और महात्माओं की भ्रांतधारणा को देखते हुए कहना पड़ता है कि शुद्ध विवेक बड़ा दुर्लभ हो गया है। मनुष्य के दिमाग पर दैववाद एवं ईश्वरवाद इतना छा गया है कि वह उससे लौटकर अपनी ओर देखना ही नहीं चाहता। किन्तु आज या कल या दस जन्मों के बाद अथवा लाखों जन्मों के बाद जब कभी मनुष्य बाहर से घूमकर अपनी ओर लौटेगा, तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। जीवन का लक्ष्य परम तृप्ति है, वह अपनी ओर लौटने में ही है।

ण

णणा दुई बसाये गाऊँ। रेणा ढूँढ़े तेरी नाऊँ॥
मूये एक जाय तजि धना। मरे इत्यादिक केते को गना॥ 15॥

शब्दार्थ—रेणा=रेरा, झगड़ा।

भावार्थ—ण अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्यों ने अपने रहने के लिए दो गांव बसाये हैं, लोक और परलोक अथवा पिंड और ब्रह्मांड। हे मनुष्य! तेरे समान पहले के लोग भी ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़कर उसे ढूंढ़ते रहे। एक तो मरकर तथा उस धन को त्यागकर

(बिना पाये) चले गये और दूसरे लोग उसी मृगतृष्णा की आशा करते हैं। अपने लक्ष्य को बाहर खोजने के भ्रम में बहुत-से लोग मर गये। उनकी गणना कैसे की जा सकती है!॥ 15॥

व्याख्या—मनुष्यों ने कल्पना की कि पिंड में जीव है और ब्रह्मांड में ईश्वर है अथवा लोक में जीव है तथा परलोक में ईश्वर है। इस प्रकार लोगों ने जीव तथा ईश्वर के लिए दो गांव बसाये और जीवों से कहा कि तुम ब्रह्मांड एवं परलोक में ईश्वर को खोजो। अतः जीव ईश्वर को खोजने के झगड़े में पड़े। सद्गुरु कहते हैं, यह ईश्वर-ब्रह्म खोजने की बात एक रेणा (रेरा) है, झगड़ा है। 112वें शब्द में झगड़े का विस्तृत वर्णन करके ब्रह्म, ईश्वर, राम, वेद, तीर्थ इत्यादि सबके संस्थापक एवं कल्पक जीव की सर्वोच्चता पर सद्गुरु ने प्रकाश डाला है।

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे तुम ईश्वर, ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़े हो वैसे पहले के लोग भी पड़े थे। वे उसे बिना पाये मरकर चले गये हैं, ऐसे लोगों की संख्या बताना असंभव है। यहां सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे संसार में तो यही भ्रम है कि परमात्मा एवं मोक्ष बाहर से मिलता है। यह तो बिरले विवेकी होते आये हैं। जिन्होंने बाहरी दौड़ छोड़कर अपने आप की तरफ देखा है तो उसे अपने आप में पाया है। सब कुछ त्याग देने के बाद जो अपना शुद्ध चेतनपद अवशेष रह जाता है वही तो अपना परम स्वरूप, परम प्राप्तव्य एवं परम निधान है। सांख्य दर्शन के प्रणेता का सार मंतव्य बताते हुए ईश्वरकृष्ण (ईसा पूर्व 200) कहते हैं—"इस प्रकार तत्त्व-अभ्यास से 'न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं' यह भाव दृढ़ हो जाने पर कुछ बाकी नहीं रहता। इस प्रकार भ्रम दूर हो जाने से विशुद्ध केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।"[1]

लक्ष्य पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ बाह्य वस्तुओं एवं नाम-रूपों को अपना माना गया है, उन्हें छोड़ देना है। दृश्यों को छोड़ देने के बाद द्रष्टा स्वयं चेतन मात्र रह जाता है, जो अपना स्वरूप है। यह बाहर खोजने का विषय नहीं, किन्तु सत्संग एवं पारख-विवेक से समझने का विषय है।

---

1. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्य कारिका, 64॥
एवं=इस प्रकार। तत्त्वाभ्यासात्=तत्त्व अभ्यास से। नास्मि=न मैं क्रियावान हूं। न मे=न मेरा भोक्तृत्व है। नाहम्=न मैं कर्ता हूं। अपरिशेषम्=कुछ बाकी नहीं रहता। अविपर्ययात्=भ्रम के दूर हो जाने से। विशुद्धं=विशुद्ध। केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्=केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

निर्वाह थोड़ी वस्तुओं में लो

त

तता अति त्रियो नहिं जाई। तन त्रिभुवन में राखु छिपाई॥
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै। तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै॥ 16॥

शब्दार्थ—त्रियो=तीन गुण—सत, रज, तम। त्रिभुवन=तीन गुण। राखु छिपाई=रक्षा करो। तत्त्व=यथार्थता, सार, चेतन।

भावार्थ—त अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि त्रिगुण मायिक पदार्थों के उपभोग में अति मत करो, किन्तु उनसे केवल शरीर-रक्षा करो। जो साधक संसार के त्रिगुणात्मक मायिक पदार्थों से केवल अनासक्ति-पूर्वक शरीर-रक्षा करता है, वह संसार से पार होकर और जीवन की यथार्थता में पहुंचकर स्व-स्वरूप चेतन तत्त्व में स्थित होता है॥ 16॥

व्याख्या—सारा जड़ दृश्य त्रिगुणात्मक है। इन्हीं पदार्थों में से कुछ लेकर इनके द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है। जिनमें विवेक और संयम नहीं हैं, वे इन पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण करते हैं। परिणाम में वे इन्द्रिय-लंपट बने वासना के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण दूर हो जाता है।

जब हमारा भाव शरीर-रक्षा का न रहकर इन्द्रिय-स्वाद का हो जाता है, तब हम खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह सब में असंयत हो जाते हैं। यहां साधुत्व छूट जाता है और जीवन का सच्चा सुख लुट जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कल्याण चाहते हो, जीवन में सच्चा सुख चाहते हो और सदा के लिए विश्रांति चाहते हो तो संयम से रहो। जीवन-निर्वाह के पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण मत करो। संसार से केवल उतने ही पदार्थ लो जितने में तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जाये। इससे तुम्हारी साधना तो बनेगी ही, दूसरों को भी सुविधा होगी। जब तुम कम पदार्थों का उपभोग करोगे, तो बचे हुए पदार्थ दूसरे के निर्वाह में काम आयेंगे।

जिसने ममता, मैथुन, राग-रंग तो पहले ही छोड़ दिये हैं, और अब खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह में भी बहुत संयम कर लिया है; वह संसार से अनासक्त हो जाता है। उसका कल्याण-पथ प्रशस्त हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम संसार से उतना ही पदार्थ लो जिससे सरल ढंग से तुम्हारा शरीर-निर्वाह चल जाये। रजोगुणीवृत्ति वस्तुओं का जखीरा बटोरना चाहती है। सतोगुणीवृत्ति थोड़े में गुजर लेना पसन्द करती है। एक अफसर एक बार मिलने आये। उन्होंने बताया कि मैं दो दिन के दौरे में गया था। उसमें अठारह जोड़े मोजे ले गया था। एक सज्जन ने बताया था कि मेरे

पहनने के पैंसठ (65) शर्ट हैं। यह सब दिमाग खराब करने की बातें हैं। कुछ लोग भोजन में कई प्रकार की सब्जियां, चटनी, अचार, मुरब्बे, मिठाइयां तथा खाने की बहुत प्रकार की चीजें रोज पसन्द करते हैं। यह सब दूसरे के अधिकार को छीनना तो है ही, अपने मन तथा पेट को भी खराब करना है। स्वादासक्त आदमी साधना में सफल नहीं हो सकता। एक सब्जी तथा सादी रोटी काफी है। बहुत हुआ दाल-भात भी ठीक है। कुछ साधक कहलाने वाले लोग भी मिर्च-मसालेदार तरकारी के लिए कुर्बान रहते हैं। ऐसे लोग मन पर कैसे विजय कर सकते हैं! भोजन तो भूख-रोग की एक दवाई है। उसे दवाई की तरह ही खाओ।

भोगों का त्यागी तथा सादा एवं स्वल्प वस्तुएं जीवन-निर्वाह में लेने वाला चारों तरफ से अनासक्त साधक साधना और बोधभाव में शीघ्र ही स्थित हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावे।" तत्त्व का अर्थ होता है यथार्थता, मूल, सार। तत्त्व का अर्थ जड़ तत्त्व ही नहीं, किन्तु चेतन तत्त्व भी है। साखी प्रकरण में सद्गुरु ने कहा है "जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।" (साखी 2) यह निज तत्त्व अपना चेतनस्वरूप है। संसार से अनासक्त साधक अपने चेतनस्वरूप के बोध को पाकर उसमें स्थित हो जाता है। यही जीवन की सबसे बड़ी ऊंचाई है। यही जीवन का लक्ष्य है। "तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै।" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है।

धैर्य द्वारा अथाह वासनाओं से पार होना होता है

थ

थथा अति अथाह थाहो नहिं जाई। 'ई' थिर 'ऊ' थिर नाहिं रहाई॥
थोर थोरे थिर होउ भाई। बिन थम्भे जस मन्दिर थँभाई॥ 17॥

शब्दार्थ—ई=लोक या खानी जाल। ऊ=परलोक या वाणी जाल।

भावार्थ—थ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि वासनाओं का सागर अत्यन्त अथाह है। उसकी थाह लगा पाना असम्भव है। लोक और परलोक तथा खानी और वाणी जाल की वासनाओं में पड़े हुए जीव कभी स्थिर नहीं होते। परन्तु हे भाई! विवेक-साधना द्वारा धीरे-धीरे उसी प्रकार तुम्हें शांति मिल जायेगी, जैसे बिना स्तम्भ दिये डाटों से धीरे-धीरे मंदिर की छत खड़ी हो जाती है॥ 17॥

व्याख्या—मनुष्य के मन में वासनाओं तथा इच्छाओं का विशाल और अथाह सागर है। मनुष्य की जिन्दगी बीत जाती है, परन्तु वह अपनी इच्छाओं की थाह नहीं पाता। इच्छाओं में पड़कर उनकी थाह है भी नहीं।

"ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई" 'ई' और 'ऊ' लोक-परलोक अथवा खानी-वाणी का पसारा है। संस्कृत के पंडित लोक-परलोक को 'इहामुत्र' (इह-अमुत्र) कहते हैं। कबीर साहेब हिन्दी में अपना वक्तव्य देते हैं। इसलिए वे 'इह-अमुत्र' को 'ई-ऊ' कहते हैं, तो क्या आश्चर्य! इह=यहां, लोक तथा अमुत्र=वहां, परलोक। इसी प्रकार ई=यहां, लोक तथा ऊ=वहां, परलोक। इस भाव को व्यक्त करने वाले बीजक के पारिभाषिक शब्द हैं क्रमशः खानी और वाणी। खानी मोटी माया है धन, परिवार, शरीरादि एवं वाणी झीनी माया है, दैव-गौसैयां आदि वाणी का पसारा।

सद्गुरु कहते हैं कि लोक-परलोक और खानी-वाणी की वासना में पड़ा हुआ आदमी स्थिर नहीं रह सकता। सद्गुरु ने हिण्डोला प्रकरण के प्रथम हिण्डोला में कहा है—"खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" अर्थात तलाश करके देखो कि खानी-वाणी की वासना में पड़े हुए जीवों में से कोई भी स्थिर नहीं है। किसी के जीवन में शांति नहीं है।

प्रश्न होता है कि फिर क्या आदमी यह मान ले कि जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। सत्संग, भक्ति, स्वाध्याय, साधना आदि में लगने पर साधक धीरे-धीरे वासनाओं एवं इच्छाओं को जीतता जाता है।

आप किसी भी शिवालय को देखिए। उसके बीच में कोई स्तम्भ नहीं होता। उसमें चारों तरफ से डाट देते हुए धीरे-धीरे पूर्ण मंदिर बना देते हैं। आज-कल नीचे से सहारा देकर छत ढाल दी जाती है और भवनों में बड़े-बड़े कक्ष बन जाते हैं। यह सब काम धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे होता है।

अनादि अभ्यस्त विषय-वासनात्मक कूड़ा-कचड़ा एक दिन में नहीं साफ होगा। साधक को चाहिए कि वह पवित्र संतों एवं सच्चे सद्गुरु की शरण में जाये। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करे। सत्संग में सारासार समझने का प्रयत्न करे। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। चिंतन, विवेक, ध्यान आदि साधनाओं में चलकर सांसारिक इच्छाओं का त्याग करे।

अज्ञानदशा में जो वासनाएं अथाह लगती हैं, पूर्णज्ञान उदय हो जाने पर वे एकदम सूख जाती हैं। साधना में चलते-चलते विवेक द्वारा जब साधक विषयों से सर्वथा अनासक्त स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाता है तब उसकी

सांसारिक वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। अज्ञानदशा में जिन वासनाओं की थाह नहीं मिलती, पूर्ण ज्ञानदशा में उनका चिन्ह भी नहीं मिलता। पूर्ण स्वरूपज्ञान का प्रकाश ऐसा है जिसके सामने अन्धकारमय वासनाओं का टिकना असम्भव है। परन्तु साधक की यह अवस्था तभी आती है जब वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक एकबद्ध साधना करता चलता है।

समय को पहचानो

द

ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥
दशहूँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै॥ 18॥

शब्दार्थ—दशहूं द्वारे=पांच कर्मेंद्रियां तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां। तारी=ध्यान, समाधि।

भावार्थ—द अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि विचार करके देखो, सब कुछ परिवर्तनशील है। अतएव जब जैसा उचित समझो, जिसमें जिस समय अपना तथा दूसरे का कल्याण देखो, वैसा विचार करो। जब साधक दसों इन्द्रियों को अपने वश में करके ध्यान एवं समाधि में लीन होता है, तब दयालु सद्गुरु के उपदेशरूप स्वरूपस्थिति के दर्शन एवं साक्षात्कार होता है॥ 18॥

व्याख्या—"ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥" यह पंक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि संसार में देखो, सब कुछ विनशता है। परिवर्तन होना संसार का स्वभाव है। अतएव किसी बात में रूढ़िवादी बनकर तथा पुरानेपन की पूंछ पकड़कर जड़तापूर्वक बैठे न रहो। जो समय की नब्ज नहीं पहचानता और उसके साथ चलना नहीं जानता, वह पीछे छूट जाता है। अपने समय के पारखियों ने ही अपनी उन्नति की है और संसार को कुछ दिया है। जो अपने साथियों को नहीं समझ पाते, समाज को नहीं समझ पाते, समय के रुख को नहीं पहचान पाते, वे अपने व्यक्तिगत जीवन तथा लोकसंग्रह—दोनों में असफल होते हैं।

बहुत-सी रूढ़ियां और प्रथाएं बड़े काम की होती हैं। तार्किक से तार्किक के जीवन और सिद्धान्त में भी उपयोगी रूढ़ियां एवं प्रथाएं होती हैं। रूढ़ि एवं प्रथा के बिना संसार में कोई जीवन-दर्शन नहीं होता। सभी समाज एवं संप्रदाय के शिष्टाचार एवं अभिवादन की अपनी रूढ़ि एवं प्रथा होती है। उनके बहुत-सारे नियम रूढ़ होते हैं। भौतिकवादी राजनैतिक पार्टियों तक में झण्डे

तथा कई बातों में रूढ़ियां होती हैं। अतएव संसार में सब रूढ़िवादी होते हैं। परन्तु विवेकवान व्यक्ति, समाज एवं संप्रदाय यह देखते हैं कि किसी ऐसी रूढ़ि का पालन न होता रहे जिससे मानव के किसी पक्ष के अधिकार का हनन हो। वे ही रूढ़ियां एवं प्रथाएं कल्याणकारी हैं जिनसे किसी का अहित नहीं होता हो और कुछ या सर्वाधिक लोगों का हित होता हो।

सद्गुरु कहते हैं कि देश-काल के प्रवाह में जो रूढ़ियां एवं प्रथाएं अहितकर एवं अनुपयोगी हो गयी हों, उनका निर्भयता एवं निर्ममतापूर्वक त्याग होना चाहिए। जो अपने समय को न पहचानकर केवल रूढ़िवादी बना रहता है, वह सड़ जाता है। लोग उसका साथ छोड़ देते हैं। और जो अपने समय को पहचानता है, उसके विचार सदैव ताजे रहते हैं। वह समय के साथ चलता है। इसलिए परिवार, समाज, देश और लोक उसके साथ चलते हैं। अतएव वर्तमान में अपना तथा अन्य का जिस प्रकार कल्याण देखो, उस प्रकार विचार करो।

"दशहुँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै॥" यहां न तो दसों दरवाजों को बन्दकर वज्र आसन लगाना है और न भीतर या बाहर कहीं अलग से दयालु भगवान बैठा है जिसके दर्शन होंगे। वस्तुतः साधक को चाहिए कि वह अपने दसों इन्द्रियों को अपने वश में करे और ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में लीन हो। जब ध्यान तथा समाधि की परिपक्वता हो जाती है तब दयालु के दर्शन होते हैं। दयालु सद्गुरु हैं, जो स्वरूपज्ञान देते हैं और रहनी की शिक्षा देते हैं। स्वरूपज्ञान की प्राप्ति एवं स्वरूपस्थिति ही सद्गुरु के सच्चे दर्शन हैं। सद्गुरु ने स्वयं कहा है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ (साखी-298)

ऊर्ध्वरिता बनो

ध

धधा अर्ध माहिं अँधियारी। अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन तारी॥
अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन लावै। आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै॥ 19॥

शब्दार्थ—अर्ध=आधा, निचला, अधोमुख। ऊर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर, ऊंचा, ऊर्ध्वमुख। तारी=ध्यान। आपा=अहंकार।

भावार्थ—ध अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन की अधोमुख वृत्ति में विषय-वासनाओं की अंधियारी है। अतएव साधक को

चाहिए कि वह मन की अधोमुखी गति छोड़कर उसे ऊर्ध्वगामी बनाये और ध्यान में लीन करे। सद्गुरु पुनः दोहराते हैं कि मन को नीची गति से हटाकर ऊंचे ले जावे और देहादिक अहंकार मिटाकर स्वरूपज्ञान और समाधि में प्रेम बढ़ावे॥ 19॥

व्याख्या—मन की दो गतियां होती हैं, निम्नगामी और ऊर्ध्वगामी। मन का इन्द्रियों के विषयों की तरफ बहना निम्नगामी गति है; और विषयों से हटकर स्वरूपज्ञान, स्वरूपचिंतन, आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि में पहुंचना ऊर्ध्वगामी गति है। सद्गुरु कहते हैं कि अर्ध में अंधियारी है। अर्थात विषय-वासना अंधकारपूर्ण है। इसलिए मन को विषय-चिंतन से हटाकर आत्मचिंतन में लगाना चाहिए।

हम यदि शारीरिक दृष्टि से भी देखें, तो शरीर में कमर से लेकर नीचे अर्धभाग है, और उसके ऊपर ऊर्ध्वभाग है। कमर से नीचे अंधकारपूर्ण विषयस्थल है और ऊपर ज्ञान की इन्द्रियां हैं। नाभि, हृदय, कंठ, ब्रह्मांड उत्तरोत्तर ज्ञानमार्ग-गामी दिशा है। ब्रह्मांड में ही सभी मुख्य ज्ञान इन्द्रियां हैं—आंख, नाक, कान, जीभ तथा ज्ञान-भंडार मस्तिष्क। जब मन अर्धभाग में उतरता है तब अंधकारपूर्ण विषयों में डूबता है और जब ऊर्ध्वगामी होता है, तब ज्ञान-प्रकाश से आलोकित हो जाता है। विषय-सेवन अर्धरिता होना है तथा ब्रह्मचर्य-पालन ऊर्ध्वरिता होना है।

सद्गुरु कबीर यहां मुख्य दो बातें कहते हैं। वे पहली बात यह बताते हैं कि मन की निचली गति में, विषयों की तरफ जाने में व्यक्ति का अंधकार में प्रवेश होना है; और ऊपर उठने में, आत्मचिंतन एवं ध्यान में लगने में प्रकाशपुंज में पहुंचना है। इसलिए वे दूसरी बात यह कहते हैं कि तुम मन को नीची गति से हटाकर उसे आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि आदि की तरफ ले जाओ; और देहाभिमान को नष्टकर स्वरूपस्थिति में प्रेम बढ़ाओ।

साधक की सबसे बड़ी कमजोरी है विषय-चिंतन। विषय-चिंतन साधक की आत्महत्या है, उसका घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। जो साधक निरंतर विषय-चिंतन करने लगता है, वह गिर जाता है। जो स्थूल विषय में नहीं गिरता है, वह अधकचरा बना भीतर-भीतर सड़ता रहता है। इसलिए विषय-चिंतन का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को किसी-न-किसी शुभ काम में लगाये रखे, तो स्वाभाविक उसे विषय-चिंतन नहीं होगा। कहावत है—'खाली दिमाग शैतान का घर'। अतएव सेवा, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय,

सत्संग-निर्णय, ध्यान, समाधि-अभ्यास आदि में साधक को लगे रहना चाहिए।

"आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै" बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है। आपा कहते हैं अपने स्वरूप को, सत्ता को; किन्तु इसका दूसरा अर्थ है अहंकार। यहां पर दूसरा अर्थ ही प्रयुक्त है। देहाभिमान नष्ट हुए बिना स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, ध्यान, समाधि में प्रेम नहीं बढ़ सकता। अतः सद्गुरु कहते हैं कि देह तथा देह सम्बन्धी समस्त नाम-रूपों का अहंकार छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में एवं ध्यान-समाधि द्वारा उसकी स्थिति प्राप्त करने में प्रेम बढ़ाओ।

देव के पशु मत बनो

न

चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खरखाई॥ 20॥

शब्दार्थ—ना=न अक्षर, अहंकार। राम का गद्धा=ईश्वर का पशु, राम की गलत व्याख्या करने वाला।

भावार्थ—न अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि जब मनुष्य सकारात्मक अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को भूलकर, नकारात्मक मन की अवधारणाओं को ही ईश्वर मानकर उसका अहंकार करता है, तब वह ईश्वर का पशु बनकर घास चरता है। अर्थात अपनी मूढ़ता का प्रदर्शन करता है॥ 20॥

व्याख्या—"चौथे वो ना महँ जाई" के दो ढंग से अर्थ किये जा सकते हैं। एक ढंग है कि त-वर्ग का चौथा वर्ण 'ध' है, और इस चौथे के बाद जब मनुष्य 'न' में जाता है, तब मानो वह निषेध में एवं शून्य में जाता है। जिस संसार में अपना एक तृण तथा एक कण भी नहीं है, वहां का अहंकार करना अज्ञान के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार अपने स्वरूप के अलावा जहां तक जो कुछ देव-गोसैयां मान रखा है, सब मन की कल्पना के अलावा कुछ नहीं है। अतएव इन कल्पित अवधारणाओं में अहंकार करना अल्पज्ञता एवं भ्रम है। अतएव अपने स्वरूप से भिन्न कुछ भी अपना लक्ष्य मानना ईश्वर का गधा बनकर घास चरना है।

दूसरा तरीका है, चतुष्टय अंतःकरण में मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। हम अपने चेतनस्वरूप के अलावा जहां भी अहंता-ममता करते हैं वह सब कुछ नकारात्मक है। उसमें कुछ भी मेरा नहीं है। अर्थ करने के ये दो तरीके हैं, किन्तु मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों तरीकों में 'न' का अर्थ नकारात्मक, निषेधात्मक एवं निगेटिव है।

सद्गुरु कहना चाहते हैं कि आदमी अज्ञानवश नकारात्मक स्थिति में पहुंचता है। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप एवं अपनी आत्मा तो सकारात्मक है; परन्तु अपने आप से पृथक देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म जो कुछ माना जाता है, वह सब केवल मन की अवधारणा, मन की कल्पना होने से नकारात्मक ही है। ऐसी कल्पित तथा नकारात्मक वस्तुओं का अंहकार करना ईश्वर का गधा होकर घास चरना ही तो है!

"राम का गद्धा होय खर खाई।" बड़ा मार्मिक वचन है। यह जीव, यह चेतन, यह आत्मा ही परम देव है, राम है, ईश्वर है, ब्रह्म है, खुदा है, गॉड है। इस प्रकार जो चेतन देव, आत्म देव को न समझकर अपने से पृथक देव, राम, ईश्वर या ब्रह्म मानता है और उसके अहंकार में मतवाला रहता है, वह ईश्वर का पशु है। वह ईश्वर-ज्ञान के नाम पर लादी लादे एवं बोझा उठाये तो घूमता है, परन्तु ईश्वर-ज्ञान के नाम पर घास चर रहा है। 'घास चरना' मार्मिक मुहावरा है। इसका अर्थ ज्ञान का थोथापन है। कोई विद्यार्थी जब बहुत मेहनत के बाद भी अपना पाठ या विषय शुद्ध रूप से अपने अध्यापक को नहीं सुना पाता, तब अध्यापक कहता है 'क्या तुम घास चरते थे?' बड़े-बड़े तप तथा शास्त्र-अध्यन के बाद भी जब धार्मिक लोग ईश्वर को अपने से बाहर खोजते हैं, तब यथार्थवादी कबीर साहेब कह बैठते हैं कि ये ईश्वर के गधे हैं। ये ईश्वर-ज्ञान के नाम पर आज तक घास चर रहे हैं। क्योंकि ये सकारात्मक स्व-स्वरूप आत्मदेव को छोड़कर उसे नकारात्मक कल्पनाओं में खोज रहे हैं। श्रुति के ऋषि भी कहते हैं—"जो समझता है कि मैं अलग हूं और देव अलग है वह देवों का पशु है।"[1] तुलसीदास जी भी कहते हैं—

ज्यों बरदा बनिजार के, फिरे घनेरे देश।
खांड भरे भुस खाइहैं, बिन गुरु के उपदेश॥
कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥ तुलसी सतसई॥

"राम का गद्धा होय खर खाई" का अर्थ बहुत व्यापक है। यह केवल हिन्दुओं के राम का अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय है सत्य। जो सत्य को अपनी

---

1. योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।
(बृह.उ. 1/4/10)
जो यह मानकर कि देवता अन्य है और मैं अन्य हूं, अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं का पशु है।

आत्मा से अलग खोजता है, वह सत्य के ज्ञान के सम्बन्ध में केवल बोझा ढोता है और घास चरता है।

हर मत वाले धर्म-धर्म बहुत चिल्लाते हैं; किन्तु यदि वे धर्म के नाम पर भेदभाव, सांप्रदायिकता, हिंसा, घृणा आदि का व्यवहार करते हैं, तो वे धर्म को क्या खाक समझते हैं! वे तो धर्म के गधे हैं। वे धर्म के नाम का बोझा लादकर घूमते हैं। वे धर्म के नाम पर आज तक केवल घास चरते आये हैं। धर्म है सबके साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार। इसे न करके जो उलटे हिंसा का व्यवहार करता है, वह धर्म का दुरुपयोग करता है।

धर्म के नाम पर हिंसा मत करो

प

पपा पाप करें सब कोई। पाप के करे धर्म नहिं होई॥
पपा कहै सुनहु रे भाई। हमरे से इन किछुवो न पाई॥ 21॥

शब्दार्थ—हमरे से=अहंकार से।

भावार्थ—प अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि धर्म के नाम पर लोग जीववध करके पाप ही करते हैं; और जीवहिंसारूपी पाप करने से धर्म नहीं होता। प अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, संप्रदायों के अंहकारी एवं मताग्रही होने से ये लोग कुछ भी नहीं पा सकते॥ 22॥

व्याख्या—देवी-देवता के नाम पर बलि कहकर तथा अल्लाह के नाम पर कुर्बानी कहकर आज भी हिन्दू और मुसलमान जीवहत्या करते हैं। आये दिन धर्म के नाम पर सांप्रदायिकतावश मनुष्यों की हत्या भी करते हैं। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व तो इन सब बातों का बोलबाला ही था। सद्गुरु कहते हैं कि जहां जीवहत्या है वहां धर्म कहां है! अल्लाह तब खुश होता है जब उसके नाम पर बकरे, मुरगे, भेड़ें, ऊंट, गाय, बैल काटे जायें। इधर हिन्दू के देवता तब खुश होते हैं जब भेड़ें, बकरे एवं भैंसे काटे जायें। यह ईश्वर और देवता के सम्बन्ध में कैसी जंगली समझ है! क्या आज का पढ़ा-लिखा आदमी जंगलीपन को छोड़ पाया है! क्या ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम पर निरीह, मूक पशु-पक्षियों का वधकर इनसान अपनी शैतानियत का परिचय नहीं दे रहा है! निरपराध प्राणियों की हत्याकर अपना कल्याण सोचना क्या पागलपन नहीं है!

सद्गुरु कहते हैं कि जीवहत्या महा पाप है, और ऐसा पाप कर धर्म होने की बात सोचना अनुचित है।

सभी मतवादियों एवं मजहब वालों को अपने-अपने मत एवं मजहब का अहंकार है कि हमारे यहां जो माना और किया जाता है वह ईश्वर की आज्ञा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मिथ्या अहंकार है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो जीवहत्या धर्म बताता हो और नाना मतवालों को परस्पर विरुद्ध आज्ञा देकर उन्हें आपस में लड़ाता हो। ईश्वर के विषय में मनुष्य केवल कल्पना करता है, न कि कोई ईश्वर नाना मतवालों के यहां अपनी विरोधी किताबें, आज्ञाएं एवं मतवाद भेजता है।

सद्गुरु कहते हैं कि ये नाना मतवादी जो ईश्वर की आड़ लेकर अपनी अनर्गल बातों को प्रामाणिकता का जामा पहनाकर सबके गले उतरवाना चाहते हैं, इस अहंकार में ये न अपना कल्याण कर पाते हैं और न समाज का। वस्तुतः सारे मत, मजहब, विचार, ग्रन्थ मनुष्यों के मन की उपज हैं। इसलिए इनमें त्रुटियां, भ्रम, अज्ञान होना भी संभव है। अतः अपनी बातों पर पुनः विचार करना तथा सदैव उन्हें शोधते रहना मानव का विवेक है।

हम हर बात पर जैसे कल सोचते थे, उनमें से कई बातों पर आज दूसरे ढंग से सोचते हैं और आज का सोचना सच लगता है; फिर सैकड़ों-हजारों वर्ष के पूर्व हमारे पूर्वज जिस ढंग से सोचते थे, उन सारी बातों में उसी तरह आज भी कैसे सोचा जा सकता है! इसलिए हर मत एवं मजहब वालों को तथा हर इनसान को विनम्र होना चाहिए और अपनी मानी हुई बातों पर ताजे ढंग से सोचना चाहिए। जो विवेक से सच लगे, जिसमें किसी को पीड़ा न हो, किन्तु अधिक से अधिक लोगों का हित हो, वही काम करना चाहिए। यही धर्म है। अहिंसा और प्रेम ही धर्म है। केवल मानव के प्रति ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति हमदर्द होना चाहिए।

मोक्ष तुम्हें खुद लेना पड़ेगा

फ

फफा फल लागे बड़ दूरी। चाखे सतगुरु देइ न तूरी॥
फफा कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पताल की खबरि नपाई॥ 22॥

शब्दार्थ—फल=मोक्ष, कल्याण।

भावार्थ—फ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मोक्षरूपी फल बहुत दूरी पर लगा है। सद्गुरु उसे तोड़कर झट से मुमुक्षु के हाथों में दे नहीं सकते कि वह बिना परिश्रम तुरन्त उसका स्वाद चख ले। जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्गुरु उसे मोक्ष-फल दे देते

हैं, वे स्वर्ग-पाताल अर्थात स्वर्ग-नरक एवं बंध-मोक्ष का रहस्य नहीं जानते ॥ 22 ॥

व्याख्या—यहां पर चार बातें बतायी गयी हैं, जिनमें तीन खुलकर हैं तथा एक उनमें अदृश्य होते हुए उसी पर सारा जोर है। पहली बात है "फल लागे बड़ दूरी।" अर्थात मोक्ष-फल दूर लगा है। यह कथन मोक्ष की दुर्लभता पर प्रकाश डालता है। जीवों की विषयों में अत्यन्त आसक्ति होने से यह बात सच है। जिनके हृदय में जितनी अधिक विषयासक्ति है उनके लिए मोक्ष उतना ही दूर है। विषयासक्ति पूर्णतया समाप्त हो जाये, तो मोक्ष जीव का स्वरूप ही है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मोक्ष की दुर्लभता बतायी गयी है।

दूसरी बात है "चाखे सद्गुरु देइ न तूरी" यदि शिष्य यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति तथा साधना में परिश्रम न करे, तो सद्गुरु मोक्षफल तोड़कर उसे दे नहीं सकते हैं कि शिष्य गप दे खा ले। बहुत-से लोगों में यह बड़ा भ्रम है कि गुरु जिस शिष्य पर कृपा कर देता है, उस पर अपना शक्तिपात कर देता है और उसे तुरन्त मुक्त कर देता है तथा उसे सारी योग्यताओं से सम्पन्न कर देता है। परन्तु सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सारी बातें भ्रमपूर्ण हैं।

यह सच है कि ज्ञान, वैराग्य एवं दिव्य रहनी से सम्पन्न सद्गुरु के चरणों में जब निश्छल हृदय से शिष्य समर्पित हो जाता है, तब उसे गुरु की सारी बातों से बड़ा मिलता है। बिना आदर्श पाये कोई मनुष्य किसी दिशा में प्रायः उन्नति नहीं कर सकता। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा विद्वान बनने के लिए अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील एवं विद्वान के आदर्श की आवश्यकता है, जिनकी दी हुई शिक्षा एवं आचरण से प्रेरणा लेकर जिज्ञासु उन दिशाओं में निष्णात हो। यह सब होते हुए भी जिज्ञासु को स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान और दिव्य रहनी से सम्पन्न सद्गुरु की शरण, और उनके उच्च आदर्श मुमुक्षु में प्राण फूंकने वाले हैं; किन्तु उसे स्वयं सेवा, स्वाध्याय, सत्संग, निर्णय, ध्यान, समाधि आदि के अभ्यास में परिश्रम करना ही पड़ेगा। यही तीसरी बात है जो मूल पद में गुप्त होते हुए भी सर्वाधिक उद्घाटित और जोरदार है। "चाखे सतगुरु देइ न तूरी" इस वाक्यांश में शिष्य एवं साधक के परिश्रम की उपयोगिता की पूर्ण अभिव्यंजना है।

चौथी बात है "स्वर्ग पताल की खबरि न पाई।" अर्थात जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्गुरु उसे मोक्ष फल दे सकते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग स्वर्ग और नरक क्या है, मोक्ष और बंधन

क्या है, इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं। यहां अभिप्राय इतना ही है कि वे मोक्ष की वास्तविकता नहीं समझते।

मोक्ष कोई ऐसा फल नहीं है जिसे सद्गुरु तोड़कर शिष्य के मुख में डाल सके। वस्तुतः हर मनुष्य के मन में विषयों की आसक्ति है। यही राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सारे विकारों का कारण है और यही जीव का बंधन है। विवेक द्वारा इसे तोड़ना जीव का ही काम है। इस काम में सहयोगी सद्गुरु और संतजन हैं। उनसे ज्ञान और युक्ति सीखी जाती है। सद्गुरु और संतों के निर्बन्ध जीवन से भी साधक को प्रेरणा का बल मिलता है। यही सब गुरु-संतों का सहयोग है। परन्तु सहयोग लेकर काम करना पड़ेगा स्वयं साधक को ही। इस बात को नहीं भूलना चाहिए।

जो धूर्त गुरु सहज में मुक्ति बांटते घूमते हैं और जो मूर्ख चेले ऐसे झांसे में पड़ते हैं, वे दोनों इन बातों पर ध्यान दें, और शुद्ध साधक सावधान हों।

अधिक वक्तव्य नहीं, आचरण चाहिए

ब

बबा बरबर करें सब कोई। बरबर करे काज नहिं होई॥
बबा बात कहै अर्थाई। फल का मर्म न जानहु भाई॥ 23॥

शब्दार्थ—बरबर=बड़बड़ाहट, बहुत बात करना।

भावार्थ—ब अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि सब लोग बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, परन्तु बहुत बड़बड़ाने से लक्ष्य नहीं मिलता। विद्वान लोग बात तो बहुत अर्थपूर्वक करते हैं, परन्तु हे भाई! इनकी बातों के फल का रहस्य तुम नहीं जानते हो॥ 23॥

व्याख्या—कुछ लोग अपने-अपने मतों का हठ लेकर बड़बड़ाते रहते हैं। कुछ लोग अपना ज्ञान एवं विद्वता दिखाने के लिए बहुत बातें करते रहते हैं। कुछ लोग बदले में मान-बड़ाई एवं धन-ऐश्वर्य पाने के लिए ज्ञान की झड़ी लगाते रहते हैं। कुछ लोग तो इतने भावनाग्रस्त हो जाते हैं कि उनको लगता है कि उनको छोड़कर सारा संसार गलत काम कर रहा है और शीघ्र ही गड्ढे में जाना चाहता है। इसलिए वे मिले हुए मनुष्यों को तो क्या, हवा के सामने भी उपदेश झाड़ते घूमते हैं। ऐसे लोग पात्र और अपात्र की पहचान ही क्यों करने लगे! वे तो 'बदो तो पंच, न बदो तो पंच' बने सबके सामने ज्ञान बघारते घूमते हैं।

जब प्रवचन के मंचों पर संचालक के पास लोग अपनी चिट्ठियां भेजते हैं कि हमें भी दस मिनट बोलने का अवसर दिया जाये, तब वे अपने आप को कितना हास्यास्पद बनाते हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। उनमें ऐसा भी अपवाद हो सकता है कि कोई समझदार व्यक्ति समाज के लिए कोई आवश्यक बातें बताना चाहता हो, जिनकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं जा रहा हो; परन्तु उनमें अधिकतम लोग या अधिक समयों में सबके सब अपना छिछलापन ही जाहिर करते हैं। यह तो समाज के लोगों को, मंचासीनों एवं संचालक को चिन्ता होनी चाहिए कि वे आपसे आग्रह करें कि आप अपनी अमृतवाणी से जनता को आप्लावित करें। यदि आपकी उच्च योग्यता पर किसी कारणवश लोग नहीं ध्यान दे रहे हैं, तो आपका क्या बिगड़ता है! आप क्यों इस भ्रम में हैं कि जब आप मंच पर बोल देंगे, तो वहां की पूरी जनता काग से हंस हो जायेगी। कई जगह तो प्रवचन करने के पिपासु लोग संचालक को केवल चिट्ठी ही नहीं देते, किन्तु इसके लिए लड़ाई-झगड़ा भी करते हैं। न अवसर पाने पर पीछे से गाली-गलौज भी लिखकर भेजते हैं।

जहां पर प्रवक्ताओं को समय का प्रतिबन्ध रहता है कि उन्हें इतने ही मिनट बोलना है, वहां पर कम ही प्रवक्ता होते हैं, जो अपने समय के भीतर अपने वक्तव्य समाप्त कर दें। वे अधिक से अधिक समय खींचना चाहते हैं और जब उन्हें विवश होकर बैठता पड़ता है, तब उनमें कई लोग यह कहते पाये जाते हैं "सज्जनो, क्या करूँ, बातें तो बहुत बतानी थीं, परन्तु मेरा समय जवाब दे रहा है। मैं विवश हूं।" यह सब कहकर वे अपनी इज्जत और घटा लेते हैं।

हमारा ज्ञान छलककर इधर-उधर बहना नहीं चाहिए, किन्तु हमें उसको अपने जीवन में पचाना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ज्ञान को अपने जीवन में आचरण करने लगता है, वह प्रवचन देने के लिए लालायित नहीं रहता। अवसर पड़ने पर लोग जब उससे कुछ सुनना चाहते हैं, तब वह उनके सामने कुछ बोल देता है, परन्तु उसके मन में बोलने की खलबली नहीं रहती।

सद्गुरु कहते हैं बहुत बड़बड़ाने से कल्याण, शांति एवं स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती। स्वरूपस्थिति तो मिलती है ज्ञान का आचरण करने से।

"बबा बात कहै अर्थाई" मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ही विद्वान बहुत अर्थपूर्ण बातें करते हैं; परन्तु उनकी बातों का फल होता है केवल वाक्य-विलास या बदले में कुछ पाने की इच्छा। भले ही वह स्थूल पदार्थ हो या केवल मान-सम्मान। तो ऐसी अर्थपूर्ण बातें किस काम कीं!

बातें निचोड़कर कहना, परन्तु उनके आचरण की छाया भी न छूना, यह तो भोग का ही कारण हो सकता है या अपने दोषों को ढांकने का साधन, कल्याण का साधन नहीं।

सद्गुरु इस सन्दर्भ में एक मुख्य बात बताना चाहते हैं कि बकबक करना छोड़कर, आचरण करना सीखें।

भ्रम से जागो

भ

भभा भभरि रहा भरपूरी। भभरे ते है नियरे दूरी॥
भभा कहै सुनहु रे भाई। भभरे आवै भभरे जाई॥ 24॥

शब्दार्थ—भभरि= भयभीत। भभरे= भयभीत होने या भ्रमने।

भावार्थ—भ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्य के जीवन में भय और भ्रम परिपूर्ण हो रहे हैं, इसलिए यह भयभीत है। भय और भ्रम के कारण निकट रहा हुआ शांतिपद दूर हो गया है। भ अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, जीव भय और भ्रम में पड़े हुए जन्म-मरण के चक्कर काटते हैं॥ 24॥

व्याख्या—भय और भ्रम सब के मन में परिपूर्ण हो रहे हैं। ड अक्षर के प्रकरण में भय पर काफी विचार किया गया है। यहां केवल भ्रम पर विचार कर लें। वस्तु-स्थिति कुछ हो तथा प्रतीत कुछ दूसरा हो, इसे भ्रम कहते हैं। शरीर हाड़-मांस का ढांचा है। थोड़ा और विचार करें तो मिट्टी का पिंड है। थोड़ा और विचार करें, तो इलेक्ट्रान एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह है। परन्तु अविद्यावश बड़ा रमणीक प्रतीत होता है। यह भ्रम नहीं तो क्या है! काम-वासना एवं मैथुन-क्रिया के पीछे क्षीणता, मलिनता, परतन्त्रता तथा पराधीनता के अतिरिक्त क्या है; भ्रमवश वह सब सुखों का मूल लगता है। क्रोध का परिणाम सब जानते हैं कि दुख है। हर क्रोध के पीछे आदमी पश्चाताप करता है। किन्तु जब क्रोध आता है और आदमी क्रोधवश किसी को गाली और मार देने चलता है, तब उसे यही लगता है कि गाली-मार देने पर ही सफलता मिलेगी। यदि उसे कोई बीच में रोकने लगे, तो क्रोधी आदमी उसी को शत्रु मानकर उस पर टूट पड़ना चाहेगा। लोभवश आदमी जब अनैतिक काम करने लगता है, तब उसे वह अच्छा लगता है; किन्तु अनैतिक काम सदैव आत्मा को सालता है।

मनुष्य जिन्दगी भर यह भ्रम पालता है कि संसार के प्राणी-पदार्थों से हमें स्थायी सुख मिलेगा। परन्तु वह इतना-सा नहीं सोच पाता कि जिन्दगी का जितना हिस्सा बीत गया है, उसमें संसार के प्राणी-पदार्थों से कितना स्थायी सुख मिला है!

सीपी में चांदी का भ्रम होता है, रस्सी में सांप का भ्रम होता है, मृग को जेठ की धूप की लहरियों में पानी का भ्रम होता है। इसी प्रकार हमें संसार के विषयों में सुख का भ्रम होता है। हम उसके लिए दौड़ते रहते हैं और अन्त में थककर हारते हैं।

मनुष्यों ने भ्रमों का बहुत बड़ा जाल बना रखा है। भूत-प्रेत का भ्रम, देवी-देवता का भ्रम, कर्ता-धर्ता का भ्रम, जगत का ब्रह्म होने का भ्रम, ग्रह-लग्न, मुहूर्त, दिशाशूल, अंग फड़कने आदि का भ्रम। जीव को अविद्यावश बहुत-बहुत भ्रम है। और इन सब भ्रमों के कारण वह निरंतर भयभीत है। इस भ्रम और भय के कारण उसकी शांति-स्थिति मूलतः निकट होते हुए, अर्थात उसका स्वरूप ही होते हुए, दूर हो गयी है।

मिथ्या भय और भ्रम के कारण ही जीव सदैव वासनाग्रसित है और इसी धुआंधार में पड़ा हुआ जन्म-मरण के चक्कर में घूम रहा है। मनुष्य के जीवन में तब तक शांति नहीं मिल सकती, जब तक उसे सच्चे सद्गुरु नहीं मिलते और वह सद्गुरु के निर्णय-वचनों द्वारा सारासार परखकर सत्य पारख स्वरूप की स्थिति नहीं करता।

सारे भय और भ्रम मन के कल्पित हैं। सद्गुरु-सत्संग में जब जड़-चेतन का ठीक बोध हो जाता है, और पवित्र रहनी धारण करने लगता है, तब उसके भय और भ्रम समाप्त हो जाते हैं और तब जीव परम शांति की प्राप्ति करता है।

माया-मोह को जीतो

म

ममा के सेये मर्म नहिं पाई। हमरे से इन मूल गँमाई॥
माया मोह रहा जग पूरी। माया मोहहि लखहु बिचारी॥ 25॥

शब्दार्थ—ममा=माया। हमरे से=हम-हम करने से, अहंकार करने से।

भावार्थ—म अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि माया का सेवन करने से मनुष्य का विवेक सो जाता है, इसलिए वह सत्य और असत्य का मर्म नहीं समझ पाता। सांसारिक वस्तुओं का अहंकार करने से मनुष्य

अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। संसारियों के मन में माया का मोह परिपूर्ण हो रहा है। इसलिए विवेक द्वारा माया-मोह की परीक्षा करो॥ 25॥

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं—(1) माया में आसक्त रहने वाला वास्तविकता नहीं समझ सकता; (2) माया का अहंकारी आदमी अपनी सच्चाई खो देता है; (3) सब के मन में माया का मोह भरा है; अतएव (4) माया-मोह की विवेकपूर्वक परीक्षा करो। चारों बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। हम इन चारों पर विचार करें।

"ममा के सेये मर्म नहिं पाई" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। जो जितना ही माया का सेवन करेगा वह उतना ही मूढ़ बनेगा। माया के सेवन का अर्थ है संसार के रागरंग में डूबना। विषयों के सेवन एवं संसार के रागरंग में डूबने से विवेक सो जाता है और जिसका विवेक ही सो गया हो, वह सत्य और असत्य के मर्म को नहीं समझ सकता। मन तो एक है। जब मन में दुनिया का रागरंग रहेगा, तब विवेक कैसे जगेगा और विवेक जगे बिना सार और असार की परख कैसे होगी! अतएव जो जीवन का मर्म जानना चाहे, वह रागरंग छोड़े।

"हमरे से इन मूल गँमाई" दूसरी बात है। 'हमरे से' का तात्पर्य है हम-हम करके, अर्थात शरीर और शरीर के नाम, रूप, वर्ण, आश्रम आदि को अपना ही रूप मानकर उनमें अहंकार करने वाला व्यक्ति अपना मूल खो देता है। हर व्यक्ति का अपना मूल स्वरूप है चेतन। मैं शरीर नहीं हूं। शरीर न होने से उसके नाम-रूप मेरे नहीं हैं। जो 'मैं नहीं हूं' उसको 'मैं' मान लेने से, अपना मौलिक 'मैं' विस्मृत हो जाता है। मैं शरीर हूं ऐसा अहंभाव आते ही, मैं शुद्ध चेतन हूं यह भाव खो जाता है। अतएव शरीराभिमान रखकर अपने मूल स्वरूप एवं चेतनस्वरूप का बोध नहीं हो सकता और न स्वरूपस्थिति हो सकती है। इसलिए जिसे अपनी मौलिकता में रहना हो, जो अपने मूल स्वरूप में स्थित रहना चाहता हो, जो अनन्त सुख का रूप है, वह सदैव देहाभिमान का तिरस्कार रखे।

तीसरी बात है "माया मोह रहा जग पूरी" संसार में सर्वत्र माया-मोह का ही पसारा है। संसार में देखो, तो हर आदमी मोह-मूढ़ है। केवल मात्रा का अन्तर है। कोई इतने प्रतिशत मूढ़ है और कोई उतने प्रतिशत। किन्तु विद्वान-अविद्वान, धनी-गरीब, उच्च वर्ग-निम्न वर्ग जहां तक देखो, सब माया में मूढ़ हैं। हां, कुछ सुज्ञ जीव इससे जागते हैं और कुछ जागने के उपक्रम में रहते हैं।

अतएव सद्गुरु चौथी बात में हमें आज्ञा देते हैं "माया मोहहि लखहु बिचारी।" अर्थात विवेकपूर्वक माया-मोह को देखो कि वह क्या है! जब हमारे हृदय में विचार एवं विवेक की जागृति होती है और जब हम विवेकप्रवण दृष्टि माया-मोह पर डालते हैं, तब माया-मोह खो जाता है। माया-मोह तो अंधकार मात्र है। अर्थात संसार के प्राणी-पदार्थों के प्रति जो हमारे मन में मोह होता है, वही तो माया-मोह है। वह अंधकार मात्र है। विवेक-सूर्य के उदित होने पर उसका कहां अस्तित्व!

विवेक न होने से ही संसार के प्राणी-पदार्थों में मोह होता है। विवेक उदित होने पर मोह समाप्त हो जाता है। सद्गुरु अंतिम बात यही कहते हैं कि तुम विचारपूर्वक माया-मोह को देखो तो पाओगे वह खो गया है। सबसे अनासक्त होना ही असंगता है और यही अपने मौलिक स्वरूप में निवास है।

मन से संसार निकाल दो

य

यया जगत रहा भरपूरी। जगतहु ते है जाना दूरी॥
यया कहै सुनहु रे भाई। हमहीं ते इन जै जै पाई॥ 26॥

शब्दार्थ—हमहीं ते= अहंकार से। जै जै= कल्याण।

भावार्थ—य अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम्हारे मन में जगत की आसक्ति ठूंस-ठूंसकर भरी है, परन्तु यह समझ लो कि संसार को छोड़कर तुम्हें दूर जाना है। य अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, इन संसारियों को यही भ्रम है कि संसार के प्राणी-पदार्थों को हमारे-हमारे करने में ही अपना कल्याण है। अर्थात ये संसारी संसार की अहंता-ममता में ही अपना कल्याण समझते हैं॥ 26॥

व्याख्या—"यया जगत रहा भरपूरी" मार्मिक वाक्यांश है। मनुष्य के मन के बाहर-भीतर संसार निरन्तर धू-धू करके गुजरता है। यह मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों में कहीं राग करके जलता है तो कहीं द्वेष करके जलता है। सांसारिकता में रात-दिन जलते रहना मानो मनुष्य ने भ्रमवश अपनी नियति मान ली है। संसार के प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर आदमी पाप पर पाप करता है। उसको यह होश भी नहीं होता कि यहां से जाना है। परन्तु सद्गुरु चेतावनी देते हैं—"जगतहु ते है जाना दूरी।" हे मानव! तू जिस संसार में आसक्त है, उसे छोड़कर सदा के लिए तुम्हें दूर चला जाना है। भले ही इस

जीव का जन्म आज के घर के आस-पास या उसी घर में ही हो, परन्तु पूर्व की याद एकदम भूल जाने से, उससे बहुत दूर ही हो जाता है।

हम जो कुछ अपना मान रखे हैं, आज-कल में इन्हें सदैव के लिए छोड़ना है। यह बात यदि हम ध्यान में रख सकें, तो निश्चित ही जाग्रत रहेंगे। सद्गुरु साखीग्रन्थ में कहते हैं—

जाको जाना उत घरा, सो क्यों जोरे मित्त।
जैसे पर घर पाहुना, रहे उठाये चित्त॥

"हमहीं ते इन जै जै पाई।" इस सन्दर्भ का यह अन्तिम अंश है जो व्यंग्यात्मक है। सद्गुरु कहते हैं कि इन संसारियों को यह भ्रम है कि संसार में हम-हम करते रहने से ही कल्याण है। मोही मनुष्य संसार की अहंता-ममता में आकंठ डूबकर अपना कल्याण समझता है।

विमोहित मानव को यह होश नहीं रहता कि जवानी, युवती पत्नी, बच्चे, धन, मान-प्रतिष्ठा सब क्षणभंगुर तथा क्षण-क्षण बदलने एवं बिछुड़ने वाले हैं। ये तो वैसे हैं कि 'चार दिनों की चांदनी, फेरि अन्धेरी रात'। इन क्षणभंगुर पदार्थों की अहंता-ममता करने से इनकी वासनाएं मन में भर जाती हैं, परन्तु ये वस्तुएं अपने पास नहीं रह जातीं। प्राप्त हुए सारे प्राणी-पदार्थों का धीरे-धीरे वियोग तथा बदलाव होता रहता है। संसार के सारे प्राणी-पदार्थ एक-एक कर हमसे हटते जाते हैं और हम अन्ततः अकेले रह जाते हैं। मन की वासनाएं तो छूटती नहीं, केवल संसार के प्राणी-पदार्थ छूटते हैं। इसलिए हम पुनः वासनाओं में बंधकर संसार का चक्कर काटते हैं।

अतएव विवेकवान का कर्तव्य है कि वह यह समझे कि जिस संसार से हमें आजकल में अलग होना ही है, उसकी अहंता-ममता एवं वासना हम आज ही से छोड़ दें। अन्त में अकेला होना है, तो हम आज ही से अपने को अकेला समझकर सबसे अनासक्त एवं असंग हो जायें। यही परम शांति का पथ है। यह स्थिति ही अपनी मौलिकता है। यह समझ लो "जगतहु ते है जाना दूरी।" इस संसार को छोड़ देना है। इसलिए इसकी वासना, इसका राग, मोह पहले छोड़ दो, तो तुम अमृतत्व पा जाओगे। वासनाहीन जीवन ही तो अमृत जीवन है। वासना से हमारे सामने संसार मौजूद रहता है और वासना त्याग देने से हमारे सामने स्वरूपस्थिति मौजूद रहती है। एक तरफ जगत है, दूसरी तरफ अपनी आत्मा। जगत को पीठ देने पर ही आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति हो सकती है।

स्वरूप-राम में रमो

र

ररा रारि रहा अरुझाई। राम के कहै दुख दारिद्र जाई॥
ररा कहै सुनहु रे भाई। सतगुरु पूँछि के सेवहु आई॥ 27॥

शब्दार्थ—रारि= झगड़ा।

भावार्थ—संसार में यह झगड़ा उलझा हुआ है कि राम-राम कहने से सब दुख-दरिद्रता मिट जाती है। परन्तु र अक्षर कहता है कि हे भाई! सद्गुरु से पूछकर राम का सेवन करो, तब कल्याण होगा॥ 27॥

व्याख्या—वेदों तथा वैदिक साहित्य में राम-नाम जप की बात कहीं नहीं है। वैदिक छह शास्त्रों में भी नहीं है। यहां तक कि श्रीराम के सम्बन्ध में बना प्रथम महाकाव्य वाल्मीकि रामायण में भी राम-नाम जप का कोई विधान एवं निर्देश नहीं है। राम-कथा[1] पहले नरकथा के रूप में बनी, पीछे श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु के अंशावतार के रूप में चित्रित किया गया। उसके बाद श्रीराम को परब्रह्म मानकर रामकथाएं बनीं और श्रीराम के नाम का जप एवं कथा-कीर्तन करके मोक्ष की अवधारणा की गयी। फिर तो राम-नाम जप की महिमा बहुत बढ़ायी गयी और कहा गया कि जीवन में इतना पाप किया नहीं जा सकता, जितना पाप एक बार के राम कहने से भस्म हो सकता है। राम का नाम लेते ही संसार-सागर के सूख जाने की गारंटी दी गयी। इस भ्रम में पड़कर लोग विवेक-विचार छोड़कर केवल राम-नाम के रट्टू सुग्गा होने लगे। फिर तो कितने ही लोग पाप की भी चिंता छोड़ दिये; क्योंकि उन्हें राम-नाम जप में इतने बल का भ्रम हो गया कि वे जो कुछ पाप करेंगे, राम का नाम लेते ही सब कपूर की तरह उड़ जायेगा। यहां तक लोग मानने लगे कि राम-राम कहने से शरीर की बीमारी, दरिद्रता, बांझपन आदि सब दूर हो जायेंगे और समस्त ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। इस प्रकार इस झगड़े में लोग उलझ गये।

कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर राम-राम कहने मात्र से कल्याण नहीं होगा। पहले किसी सच्चे सद्गुरु के पास जाकर पूछो कि राम क्या है और उसका सेवन कैसे करना चाहिए, तो सद्गुरु बताएगा।

---

1. ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त रूप बना, उसमें रामकथा नरकथा के रूप में थी। उसके सौ वर्ष बाद उसमें बालकांड तथा उत्तरकांड प्रक्षिप्त करके श्रीराम चारों भाइयों के लिए विष्णु का अंशावतार की बात की गयी है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक अध्यात्म रामायण बनी, जिसमें श्रीराम को परब्रह्म माना गया। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने मानस बनाकर उसमें श्रीराम को ब्रह्म का सर्वोच्च रूप दिया।

बीजक में यह स्पष्ट है कि कबीर साहेब का उपासनीय राम दशरथ-पुत्र नहीं है, किन्तु हृदय-निवासी चेतन है। क्योंकि यही सार्वभौमिक सिद्धान्त हो सकता है। कबीर साहेब के सारे सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं। जाति, धर्म, अध्यात्म सबमें उनका दृष्टिकोण सार्वभौमिक है। अतएव उनका निर्देश है "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"

राम, शिव, हरि, ब्रह्म, खुदा, गॉड, सतनाम, गुरुनाम आदि कोई नाम हो; इनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। इनमें जिसको जिस नाम में श्रद्धा हो, जप सकता है। किसी पवित्र अवधारित नाम के जप से मन में सात्त्विकता एवं कुछ एकाग्रता आती है। परन्तु यही सर्वोच्च साधन नहीं है। यह तो रोते हुए बच्चे के मुँह में काठ का चटुवा देना है। उससे वह थोड़ा चुप हो जायेगा। परन्तु उसे मां के सच्चे दूध की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधक को स्वरूप का बोध चाहिए। अपना चेतनस्वरूप ही अपना परम निधान है। उसके लिए ही राम, हरि, ब्रह्म आदि शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं। अपने स्वरूप के अलावा यदि चेतन है तो सजाति है। यदि जड़ है, तो विजाति है। अपने चेतन स्वरूप के अलावा अपना लक्ष्य कहीं नहीं है। मेरी अपनी आत्मा ही राम है। वही पारखस्वरूप शुद्ध चेतन है। राम-राम कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं एवं विकारों को त्यागकर अपने चेतनरूप राम में रमने की आवश्यकता है। मन से विषय-विकार हट जाने पर उसमें चेतन का ही बोध रह जाता है। इस बोध में स्थित होना ही राम का सेवन है, राम में रमना है।

संदेहशील व्यक्ति साफ नहीं बोल सकता

ल

लला तुतुरे बात जनाई। तुतुरे आय तुतुरे परिचाई॥
आप तुतुरे और की कहई। एकै खेत दूनों निर्बहई॥ 28॥

शब्दार्थ—तुतुरे=तुतलाने वाला, साफ न कहने वाला, अबोधी गुरु। आय=होना, आना। परिचाई=परिचय देना, ज्ञान देना। खेत=क्षेत्र, स्थान।

भावार्थ—ल अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि अबोधी गुरु शिष्यों को लल्ला, बच्चा आदि प्यार भरे वचन भले कहें, परन्तु वे उलझी हुई बातें बताते हैं। क्योंकि वे हृदय से ही उलझे एवं अबोधग्रस्त हैं, इसलिए उलझी हुई बातों से धर्म तथा अध्यात्म का परिचय भी देते हैं। वे स्वयं अबोधी होने से बात तुतलाकर कहते हैं। अर्थात उलझी हुई चर्चा करते हैं। ये

लोग एक ही अध्यात्मबोध एवं अध्यात्मसाधना में जड़-चेतन, भोग-योग, पाप-पुण्य मिलाकर सबका निर्वाह कर लेते हैं। अर्थात इनके यहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है। कोई निर्णय नहीं है॥ 28॥

व्याख्या—संसार में ऐसे अधिकतम गुरु हैं जिनके हृदय में सत्य और असत्य का निर्णय नहीं है। उन्हें वास्तविकता का बोध नहीं है। जिसके भीतर स्पष्ट बोध ही नहीं है, वह दूसरे को सही रास्ता कैसे बतायेगा! ऐसे गुरुओं को सद्गुरु ने 'तुतुरे' कहा है। इसका अर्थ होता है तुतलाने वाला। जो व्यक्ति तुतलाकर बोलता है, उसकी बात साफ नहीं रहती। किसी-किसी में जो स्वाभाविक ढंग से तुतलाहट रहती है, वह कोई शारीरिक कमी है। परन्तु यहाँ सद्गुरु उसे तुतलाने वाला कहते हैं जो अबोधग्रस्त होने से बात खुलासा नहीं कर पाता। जिसका हृदय ही भ्रम से पूर्ण है, वह बात साफ कैसे करेगा!

एक पूर्व परिचित संस्कृत भाषा के विद्वान पंडित मिलने आये। मैंने उनसे पूछा—'कुछ भजन-साधन चलता है?' उन्होंने कहा—'दूसरा तो कुछ है नहीं, सब एक ही ब्रह्मतत्त्व है। फिर किसका भजन-साधन करें! तत्त्व एक ही होने से ग्रहण-त्याग भी संभव नहीं। क्या छोड़ें, क्या ग्रहण करें, जब अंततः सब कुछ ब्रह्म ही है।'

मैंने कहा—'पंडित जी! आपके सामने पत्थर पड़े हैं, मनुष्य भी हैं। उधर टट्टी पड़ी है। इधर सब्जी का गट्ठा रखा है। क्या ये सब अलग-अलग नहीं हैं? क्या टट्टी और रोटी में भेद नहीं है? क्या जड़ और चेतन एक ही है? क्या पत्नी, पुत्री और मां का भेद नहीं है? भोग और त्याग में क्या अन्तर नहीं है?'

पंडित जी ने कहा—'भेद अवश्य है। शास्त्रों में जड़ और चेतन को सर्वथा अलग-अलग भी कहा गया है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा—ये सभी शास्त्र जड़ तथा चेतन को सर्वथा भिन्न बताते हैं।

मैंने कहा—'तो फिर आप अपने लिए तथा अपने श्रोताओं एवं शिष्यों के लिए क्या निर्णय कर रहे हैं?'

पंडित जी ने कहा—'महाराज! क्या मानूं क्या न मानूं, सभी शास्त्रों के रचयिता आप्तपुरुष हैं। मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाता हूं। कभी किसी शास्त्र की बातें कह देता हूं और कभी किसी शास्त्र की। जीवन में त्याग कठिन है। इसलिए वेदांत की बातें ज्यादा अच्छी लगती हैं।'

वेदांत के ग्रन्थों में बताया है कि सत्ता केवल एक ब्रह्म की है। उसके अलावा जगत, जीव, ईश्वर आदि कुछ नहीं है। एक शुद्ध ब्रह्म की सत्ता होने

से विषय-भोग भी ब्रह्म से अलग नहीं है। विषयों में सुख नहीं है। सुखस्वरूप केवल ब्रह्म है। यदि विषय-भोग में सुख लगता है तो वह विषय का नहीं ब्रह्म का है। अतः जीवन में जो कुछ भोग-त्याग है, सब ब्रह्म में ही रमण है। 'कृष्ण भोगी थे, शुकदेव त्यागी थे, जनक एवं श्रीराम राजा थे और वसिष्ठ कर्मकर्ता थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'[1] यद्यपि दूसरे शास्त्रों में इसका खंडन है। जड़-चेतन सर्वथा भिन्न माना गया है। आत्मस्थिति के लिए सत्य, तप, सम्यक ज्ञान, नित्य का अखंड ब्रह्मचर्य तथा सभी दोषों का त्याग बताया गया है।[2] इसलिए मन में कुछ साफ निर्णय तो नहीं कर पाते, परन्तु जड़-चेतन तथा भोग-त्याग में अंतर न मानने से आधुनिक वेदांत सरल दिखता है।

एक भक्त मिले। मैंने उनसे पूछा—"कहो भाई! कुछ साधन-भजन चलता है?"

उन्होंने कहा—"हम क्या कर सकते हैं! प्रभु जो चाहता है, वही होता है। 'बोले बिहंसि महेस पुनि, ज्ञानी मूढ़ न कोय। जेहि क्षण रघुपति जस करें, तेहि क्षण तइसन होय॥' हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह जिधर चलाता है, उधर हमें चलना है।"

मैंने कहा—'तो संसार में पुण्य के साथ जितने डाके, हत्याएं, आगजनी, कालाबाजारी, व्यभिचार, मिलावटबाजी, घूसखोरी आदि अत्याचार होते हैं सब ईश्वर ही करवाता है? दरिद्रता, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, नाना विपत्ति आदि जीवों के ऊपर जो आते हैं, सब ईश्वर ही उनके ऊपर ढाता है?'

भक्त जी ने कहा—"कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा॥ जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है।"

मैंने कहा—"भक्त जी, अभी आप बता आये हैं कि जीव कठपुतली है। वह स्वतन्त्र है ही नहीं कि कुछ कर सके, फिर उसे आप स्वतन्त्र कर्मकर्ता भी बता रहे हैं। यह घपलेबाजी की बातें क्यों?"

भक्त जी ने कहा—"देखिए महाराज! हम शास्त्र की किसी बात पर अविश्वास नहीं करते। जो कुछ लिखा है हमारे लिए सब सत्य है। अन्त में सत्य और असत्य क्या है, यह ईश्वर ही जाने।"

---

1. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवौ।
   वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥
2. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
   अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

उक्त सारी बातें या इन-जैसी अन्य बातें 'तुतुरे' एवं तुतलाने वालों की हैं। जब मन में कोई साफ नक्शा ही नहीं है, तो बाहर उसका स्पष्ट विवेचन भी कैसे किया जा सके। जड़-चेतन, ग्रहण-त्याग, विधि-निषेध हैं। भोगों से हटकर संयम द्वारा ही स्वरूपस्थिति मिल सकती है। जीव से कोई भगवान या शैतान अच्छे-बुरे कर्म करवाते नहीं हैं। जीव स्वयं अपनी समझ से जो चाहता है, वह करता है; और जैसे करता है, वैसे भरता है। ये निर्णय की बातें एकनिष्ठ होकर न वे मान सकते हैं और न कह सकते हैं। जो संदेह में हैं तथा डांवांडोल हैं, उनका निर्णय साफ हो ही नहीं सकता।

इसलिए तुतलाने वाले, दुविधापूर्ण बात कहने वाले न स्वयं साफ हो सकते हैं, न दूसरों को साफ रास्ता बता सकते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हुए इस पद के अन्त में कहा "एकै खेत दूनों निर्बहई।" अर्थात ऐसे भ्रामक गुरुजन एक अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन, भोग-त्याग दोनों को मिलाकर एक साथ दोनों का निर्वाह करते हैं। ज्ञान-भक्ति के नाम पर ऐसी जगह रास-भोग सब चलता है।

तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं, भीतर है

व

ववा वह वह कहैं सब कोई। वह वह कहै काज नहिं होई॥
वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥ 29॥

शब्दार्थ—स्वर्ग पताल=स्वर्ग-नरक, मोक्ष-बन्ध, सत्ता की समग्रता, वास्तविकता।

भावार्थ—व अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि वह-वह, वह-वह तो सब कहते हैं; अर्थात वह परमात्मा, वह ब्रह्म तो सब कहते हैं, परन्तु वह-वह कहने एवं परोक्ष में निर्देश करने से जिज्ञासु को न बोध होता है और न तृप्ति। परोक्ष बात कहने वालों की बातें वही सुनकर मान लेता है, जिसने वास्तविकता नहीं देखी है॥ 29॥

व्याख्या—व्याकरण के अनुसार तीन पुरुष होते हैं—मैं, तू तथा वह। मैं उत्तम पुरुष है, तू मध्यम पुरुष है और वह अन्य पुरुष है। धर्म तथा अध्यात्म के क्षेत्र में उत्तम पुरुष की चर्चा करने वाले कम हैं, अन्य पुरुष की ही चर्चा में अधिक लोग व्यस्त हैं। अधिकतम लोग यही कहते हैं कि वह परमात्मा है, वह ब्रह्म है, अथवा वहां परमात्मा है, वहां ब्रह्म है। अर्थात परमात्मा या ब्रह्म को लोग परोक्ष में डालकर चुप हो जाते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि

परमात्मा एवं ब्रह्म को परोक्ष में, शून्य में, अपने से दूर किसी अदृश्य कल्पित स्थान में मानकर सच्चे जिज्ञासु की न जिज्ञासा मिटेगी और न उसे स्थायी सन्तोष होगा।

दृष्टि अन्य पुरुष 'वह' पर नहीं; उत्तम पुरुष 'मैं' पर होना चाहिए। 'मैं' से स्पष्ट और क्या हो सकता है? मेरा अपना चेतनस्वरूप, स्व-सत्ता ही परमात्मा है, परम-आत्मा, श्रेष्ठ-आत्मा, शुद्ध-आत्मा है। जो सबको परखता है, वह पारखरूप मेरा है। पारख ही तो आत्मा राम है, 'अस्ति आत्मा राम है।' इस 'मैं-तत्त्व' स्व-स्वरूप की पहचान छोड़कर वह परमात्मा है, वह ब्रह्म है मानते तथा कहते हुए भटकना कहां की बुद्धिमानी है! इसमें कहां आत्मकल्याण है! अतएव सद्गुरु कहते हैं "वह वह कहै काज नहिं होई।" अतः 'वह' कहना छोड़कर 'मैं' को पहचानो।

"वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥" यह और भी जोरदार वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग वह-वह कहते रहते हैं; अपने से पृथक अपना लक्ष्य, परमात्मा, राम, ब्रह्म एवं मोक्ष खोजते रहते हैं, वे अध्यात्म क्षेत्र में भोले हैं और ऐसे भोले लोगों की बातें सुनकर उन्हें वही मानेगा, जो स्वयं भी भोला होगा। सद्गुरु कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मुझसे अलग कहीं दूर है यह बात वही मानेगा जिसने स्वर्ग-पाताल नहीं देखा होगा। अर्थात जिसे सत्ता की समग्रता का, बन्ध-मोक्ष का एवं वास्तविकता का बोध नहीं होगा।

भोला आदमी ही परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग खोजता है। थोड़ी-सी बुद्धि से भी हम समझ सकते हैं कि बाहर से मिली हुई वस्तु एक दिन अवश्य छूट जाती है। यदि मेरा लक्ष्य एवं उद्देश्य बाहर है, यदि मेरे उद्देश्य से मेरी देश-काल की दूरी है, तो वह मेरा उद्देश्य ही नहीं है।

शांति तुमसे अभिन्न है

श

शशा सर नहिं देखे कोई। सर शीतलता एकै होई॥
शशा कहै सुनहु रे भाई। शून्य समान चला जग जाई॥ 30॥

शब्दार्थ—सर=शर, जल। शुद्ध शब्द 'शर' है। इसका अर्थ जल[1] है।

भावार्थ—श अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग जल को नहीं देखते कि जल और शीतलता एक ही है। अर्थात जीव और जीव का

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

लक्ष्य एक ही है। श अक्षर कहता है, हे भाई! सुनो, संसार के लोग विवेक के बिना शून्य के समान चले जा रहे हैं॥ 30॥

व्याख्या—शर और शीतलता अर्थात जल और उसकी ठंडक एक ही है। जल से शीतलता हटायी नहीं जा सकती। यदि जल को गरम कर दें, तो भी मूल रूप में जल शीतल ही रहता है। इसीलिए गरम जल जब अग्नि पर डालते हैं, तब अग्नि बुझ जाती है। यदि जल गरम हो गया होता तो वह अग्नि को कैसे बुझा पाता? अतएव जिस जल को हम गरम कहते हैं वह गरम नहीं है, किन्तु उसमें मिले हुए अग्नि के कण गरम हैं और हमें लगता है कि जल गरम है। यहां जल का भौतिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं करना है। यहां तो इतना ही उदाहरण पेश करना है कि कहीं शीतल जल रखा हो, तो हम देखते हैं कि जल और शीतलता एक है। इसी प्रकार जीव और जीव का लक्ष्य परम शांति एवं मोक्ष एक ही है।

जीव केवल दुख की सर्वथा निवृत्ति चाहता है। दुख न रहने पर दुखहीन दशा को शांति या परमानन्द दशा भी कह सकते हैं। इसी को कोई ईश्वर की प्राप्ति, ब्रह्म की प्राप्ति भी कह सकता है। जीव से पृथक ईश्वर-ब्रह्म कुछ ऐसी वस्तु नहीं है जो अलग से मिलती हो। जिसके मन में जिस शब्द से संतोष होता हो, उस शब्द का प्रयोग करके संतोष कर ले। तथ्य इतना ही है कि मन विषयों से मुक्त होने पर निर्मल होता है। निर्मल मन चंचलता छोड़कर एकाग्र होता है। एकाग्र मन में अपने चेतनस्वरूप का बोध होकर स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति होती है। यही सर्वोच्च गंतव्य है। इसके आगे न रास्ता है और न गंतव्य।

जैसे जल से शीतलता अलग नहीं, वैसे जीव से उसका लक्ष्य, उसका मोक्षपद अलग नहीं। जीव की ही निर्मल दशा ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्ष एवं पारखस्थिति है।

जल में अग्नि के कण बाहर से मिल जाने से जल गरम प्रतीत होता है। उसे शीतल बनाने के लिए कुछ उसमें डालना नहीं है, किन्तु केवल जल में से अग्नि-कण निकल जाने दीजिए, फिर जल अपने आप शीतल रह जायेगा; क्योंकि उसका स्वरूप ही शीतल है। इसी प्रकार जीव के साथ जो कामादि विकार लगे हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं। वे बाहर से लग गये हैं। साधक का काम है कि वह विकारों को निकल जाने दे। उन्हें बुलाये नहीं। उनका स्वागत न करे। उनसे अपना मन समेट ले। जब विकार सर्वथा निकल जायेंगे, तब जीव स्वयं मुक्तरूप रह जायेगा। शर तथा शीतलता तो एक ही

है। जीव और परमशांति-दशा एक ही है। जल को शीतलता पाना नहीं है। श्री तुलसीदास जी ने भी अपनी सतसई रचना में लिखा है "जल कहं परम पियास!" आश्चर्य है जल ही बहुत प्यासा हो गया। मूलतः तृप्तरूप जीव भूलवश अतृप्त बन गया।

सद्गुरु कहते हैं—"शून्य समान चला जग जाई।" अर्थात अपने मूल स्वरूप को न पहचानकर शून्य में सिर मारते-मारते संसार के लोग धोखे में जन्म खो रहे हैं। परम सुखस्वरूप अपनी अपरोक्ष आत्मा की स्थिति छोड़कर, प्रत्यक्ष विषयों एवं परोक्ष कल्पनाओं में भटक रहे हैं।

आग्रह-रहित विनम्र बनो

ष

षषा खरा करे सब कोई। खर खर करे काज नहिं होई॥
षषा कहै सुनहु रे भाई। राम नाम ले जाहु पराई॥ 31॥

शब्दार्थ—खरा=तेज, साफ-साफ, सत्य। खर खर=तेज, कड़ा, गरम-गरम। पराई=दूसरे की; भाग जाना, यहां अर्थ है भाग जाना, त्याग करना।

भावार्थ—ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि सभी मतवादी अपने विचार, मान्यता एवं सिद्धान्त को खरा एवं सत्य समझते हैं; और उनको लेकर दूसरों से गरम-गरम बातें करते हैं। परन्तु खरखर-भरभर करने से न अपना कल्याण हो सकता है न दूसरे का। ष अक्षर कहता है कि हे भाई! तुम राम का नाम लो, कोई बात नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं का त्याग करो॥ 31॥

व्याख्या—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी मान्यताओं, विचारों एवं सिद्धान्त को सत्य मानता है। सद्गुरु कहते हैं—"खरा करे सब कोई।" अर्थात सभी लोग अपने विचारों को खरा कहते हैं और उसको लेकर दूसरों से झगड़ते हैं। अल्पज्ञ आदमी जब किसी बात को मत एवं सिद्धान्त के रूप में मान लेता है, तब उसके ख्याल से सारा सत्य उसके मत के ही भीतर सिमट जाता है। वह यह समझने की चेष्टा ही नहीं करता कि दूसरे के मत एवं सिद्धान्त में भी कुछ सार-सत्य हो सकता है। अतएव ऐसे आदमी अपने मत एवं सिद्धान्त के भूत बन जाते हैं। वे मानते और कहते हैं कि संसार में परम सत्य केवल हमारा ही मत है और इस बात को लेकर वे जा-बेजा खरखर-भरभर करते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मताग्रही बनकर न अपना कल्याण हो सकता है और न दूसरे का।

जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, वह उतना विनम्र होता जाता है। उसको सबके मतों में सत्य के अंश दिखाई देते हैं। वह किसी के निर्णय को सुनकर अपने मत की भी परीक्षा करता है। जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, उसकी बोली उतनी ही धीमी होती जाती है। अल्पज्ञ ही ताल ठोककर बातें करता तथा दूसरे मत वालों को ललकारता है।

प्रश्न उठ सकता है कि कबीर साहेब ने भी तो अन्य मतावलंबियों को ललकारा है। प्रश्न सच है। परन्तु कबीर साहेब की स्थिति बहुत भिन्न है। पूर्ण पुरुषों को भी कभी-कभी हठ और अहंकार से उन्मादित लोगों को रास्ते पर लाने के लिए उन्हें ललकारना पड़ता है। कबीर साहेब को यह विधा बहुत अपनानी पड़ी। उन्हें संसार को जड़ता से जगाने के लिए बहुत झकझोरना पड़ा। परन्तु वे जिज्ञासुओं के सामने विनम्र थे। कबीर-जैसे संतशिरोमणि की भाषा कितनी विनम्र है—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

"राम नाम ले जाहु पराई।" लगता है जैसे कुछ ऐसे लोग कबीर साहेब के सामने उपस्थित हों, जो सदाचार और त्याग के बिना केवल राम-नाम जप से कल्याण-प्राप्ति का व्याख्यान देते रहे हों और वे इसमें अपनी अधिक भावुकता प्रदर्शित करते रहे हों। सद्गुरु ऐसे लोगों को लक्ष्य करके मानो कहते हों कि ठीक है भाई! राम-राम लो, परन्तु केवल इतने से काम नहीं चलेगा। 'जाहु पराई'—भाग जाओ संसार से, तब कल्याण होगा। इसका अभिप्राय इतना ही है कि विषय-विकारों का त्याग करो, तब कल्याण होगा। यहां केवल राम-नाम जप से ही अभिप्राय नहीं समझना चाहिए; किन्तु कोई भी पवित्र माना हुआ नाम हो, केवल उसके जपने से कल्याण मान लेना भोलापन है। स्वरूपज्ञान चाहिए, विषयों का त्याग चाहिए एवं मनोनिग्रहपूर्वक स्वरूपस्थिति चाहिए। तभी कल्याण है।

अज्ञान और मोह से ऊपर उठो

स

ससा सरा रचो बरियाई। सर बेधे सब लोग तवाई॥
ससा के घर सुन गुण होई। इतनी बात न जाने कोई॥ 32॥

शब्दार्थ—सरा=चिता। बरियाई=बलात, हठपूर्वक। सर=बाण। तवाई=ताप से व्याकुल, मूर्च्छित।

भावार्थ—स अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग हठपूर्वक आत्मदाह करने के लिए अज्ञान की चिता बनाते हैं। और मोह के

बाण के बिंधकर सब मूर्च्छित हैं। परन्तु लोग इतनी-सी बात नहीं जानते कि इन सबका परिणाम धोखा खाना है॥ 32॥

व्याख्या—अज्ञान ही वह चिता है जिसमें मनुष्य अपने आप का दाह करता है। अपने से ही पैदा हुआ अज्ञान अपने आप का विध्वंस करता है। सारे दुखों की जड़ अज्ञान है। लोग हठपूर्वक अपने आप को अज्ञान की आग में झोंकते हैं।

कितने ऐसे लोग होते हैं जो किसी समझदार के समझाने पर भी नहीं समझते। उन्हें अपने मन का रास्ता अच्छा लगता है। विनयी अंतःकरण हुए बिना सत्यासत्य समझा नहीं जा सकता। जब मन में पूर्ण विनम्रता आ जाती है, तब बहुत बातें तो अपने आप समझ में आ जाती हैं, और जो स्वतः नहीं समझ में आतीं, वे दूसरों द्वारा समझ ली जाती हैं।

उन मनुष्यों एवं साधकों का बहुत बड़ा दुर्भाग्य होता है, जो अहंकारी एवं हठी होते हैं। वे अपने हठ में पड़कर अपने विवेक की तो अवहेलना करते ही हैं, गुरुजनों की भी कर देते हैं। इसलिए उनके सुधार का रास्ता बंद हो जाता है। ऐसे लोगों के मन में सांसारिक प्रलोभन तथा बुद्धि का गर्व होता है और इन दोनों का मूल अज्ञान है।

"सर बेधे सब लोग तवाई" अर्थात मोह के बाण से बिंधकर सब लोग मूर्च्छित हैं। मोह ऐसा बाण है जिसके लगने पर मनुष्य को अपने आपा का ध्यान नहीं रह जाता। मोह मनुष्य को मूढ़ बनाता है। सीता के सौन्दर्य के मोह में पड़कर ही रावण-जैसे विद्वान और प्रतापी पुरुष ने अपना सर्वनाश किया था। संयोगिता के मोह में पड़कर दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज ने अपना पतन किया था। सिंहल द्वीप की रानियों के मोह में फंसकर मछंदरनाथ ने अपना वैराग्य खोया था। मोह से ग्रस्त होकर आदमी ऐसे-ऐसे कुकर्म कर डालता है जिसके परिणाम में उसे समाज में कलंकित एवं लज्जित तथा अन्तरात्मा से मलिन होना पड़ता है।

कितने साधक तथा साधिकाएं विरोधी आलंबन अर्थात किसी स्त्री या पुरुष के सम्पर्क में बराबर आते-आते जब मोहग्रस्त हो जाते हैं, तब वे अपनी साधना को छोड़ बैठते हैं। मोह बर्फ का गोला है, जो मन में बैठते ही उसे सुप्त कर देता है। अतएव मन में मोह उत्पन्न करने वाले कुसंग का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

अज्ञान और मोह के घर में शून्य गुण है। अर्थात अज्ञान तथा मोह में पड़कर जीव को खाली हाथ ही संसार से लौटना पड़ता है। वह जिसे अपना

बहुत बड़ा धन एवं मित्र मानता है उसका वियोग हो जाता है। इसलिए उसे अन्त में धोखा खाना पड़ता है।

जीवन की सफलता तो अज्ञान एवं मोह से बचकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान में है। जो व्यक्ति अपने आप को पा गया वह धन्य हो गया।

तृष्णा का प्राबल्य

ह

हहा हाय हाय में सब जग जाई। हर्ष सोग सब माहिं समाई॥
हँकरि हँकरि सब बड़-बड़ गयऊ। हाहा मर्म न काहू पयऊ॥ 33॥

शब्दार्थ—हाय हाय=तृष्णा, दुख। हँकरि हँकरि=हाय-हाय करके। हाहा मर्म=तृष्णा और दुख का भेद।

भावार्थ—ह अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि तृष्णा और दुख में हाय-हाय करते हुए संसार के सारे लोग जा रहे हैं। सभी में संसार के हर्ष तथा शोक समाये हुए हैं। सब बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग हाय-हाय करके मर गये और मरे जा रहे हैं; किन्तु वे अपनी पीड़ा का भेद नहीं जान पाये, न जान पाते हैं॥ 33॥

व्याख्या—"हहा हाय हाय में सब जग जाई।" परम सत्य वचन है। सारा संसार हाय धन, हाय जमीन, हाय मकान, हाय मिनिस्टरी, हाय राज, हाय पत्नी, हाय पुत्र, हाय मान-बड़ाई, हाय महंती, हाय सम्मान आदि करते-करते मर रहा है।

तृष्णा दुखों की जननी है। किसी इन्द्रिय से जब उसके विषय से संयोग होता है, तब उसमें आसक्ति बनती है। जिसमें आसक्ति हो जाती है उसका पुनः उपभोग किया जाता है। फिर उसकी तृष्णा बन जाती है। जिन विषयों में तृष्णा बन जाती है, उनका चाहे जितना उपभोग किया जाये, कभी संतोष नहीं होता। हर भोग में तृष्णा अपना स्थान बनाती है। घर की तृष्णा, जमीन की तृष्णा, रुपये की तृष्णा, काम-भोग की तृष्णा, पुत्रों की तृष्णा, शिष्यों की तृष्णा, मान-सम्मान की तृष्णा, खाने की तृष्णा, करने की तृष्णा, कहां तक गिनाया जाये, तृष्णा का राज्य विशाल है। इन तृष्णाओं में आदमी जीवनभर दौड़ते-दौड़ते, हाय-हाय करते-करते मरते हैं।

"हर्ष सोग सब माहिं समाई॥" मायिक पदार्थों की उपलब्धि में जो हर्ष मानेगा, वह शोक का शिकार तो होगा ही। हर्ष और शोक में डूबे हुए आदमी के जीवन में शांति कहां है? जिसकी वृत्ति पदार्थ-पार होती है, वही हर्ष और

शोक से पार होता है। ज्ञानी पुरुष सब कुछ को क्षणभंगुर, नाशवान एवं स्वप्नवत समझकर हर्ष-शोक से पार होता है। साधारण इनसान को भी चाहिए कि वह अपने को यथासंभव हर्ष और शोक से बचाने का प्रयत्न करे। यह विवेक रखना चाहिए कि हर प्रयत्न रखने पर भी अन्त में जो कुछ उत्थान-पतन होना होता है वह होता ही है, फिर उसके लिए बहुत भावुक बनकर हर्ष-शोक क्यों किया जाये!

"हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ।" कितना मार्मिक वचन है। बड़े विद्वान, बड़े धनी, बड़े पूज्य-प्रसिद्ध, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी हाय-हाय करके चले गये। उनको अपने जीवन में पूर्ण संतोष नहीं मिला। क्षोभ, शिकायत, कलह और आग्रह करना असंतोष के लक्षण हैं। जो पूर्ण तृप्त होता है उसके जीवन में शिकायत नाम की चीज नहीं होती।

"हाहा मर्म न काहू पयऊ।" लोग यह नहीं समझ पाते कि हम हाय-हाय क्यों कर रहे हैं! जिसको जीवन की मूल भौतिक आवश्यकता रोटी-कपड़े न मिलते हों, वह रोता-पीटता हो, तो बात समझ में आती है। परन्तु जो पेटभर खाकर, तनभर कपड़े पहनकर भी मानसिक पीड़ा में पीड़ित रहता है उसे क्या समझा जाये! वस्तुतः अज्ञान और तृष्णा जब तक नहीं जाती तब तक अरबपति, खरबपति ही नहीं, विश्वपति भी संतुष्ट नहीं हो सकता। सच है—

तन की भूख तनिक है, तृप्त पाव या सेर।
मन की भूख अथाह है, तृप्त न पाय सुमेर॥ विवेक प्रकाश॥

अज्ञान और तृष्णा में पड़े हुए संसार के लोगों की यही दशा है।

जीवन को क्षणभंगुर समझकर पहले ही सावधान हो जाओ

क्ष

क्षक्षा क्षिन में परलय सब मिटि जाई। छेवपरे तब को समुझाई॥
छेवपरे काहु अन्त न पाया। कहहिं कबीर अगमन गोहराया॥ 34॥

शब्दार्थ—छेव=वार, घाव, चोट। अगमन=आगे से, पहले ही। गोह-राया=पुकारा, समझाया।

भावार्थ—क्ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मौत आकर तुम्हारा क्षण में ही प्रलय कर देगी; और शरीर के जाते ही तुम्हारा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। जब मौत की चोट तुम्हारे ऊपर पड़ेगी और तुम संसार से विदा होने लगोगे, तब तुम्हें कौन सत्य समझा सकेगा! जिस व्यक्ति ने जीवन में वासना-बंधनों का अंत नहीं कर पाया, वह

मरने पर उसका अन्त कैसे कर सकता है! कबीर साहेब कहते हैं कि इसलिए मैं पहले ही तुम्हें सावधान होने के लिए पुकारकर कहते जा रहा हूं॥ 34॥

व्याख्या—"क्षिन में परलय सब मिटि जाई।" संसार का परम सत्य विधान है। जो शारीरिक जीवन परम सत्य लगता है, वही मौत के आते ही परम असत्य हो जाता है। श्रद्धेय पिता, माता, गुरु, विद्वान, पूज्य, महाराजा, प्यारा पुत्र, प्यारा मित्र, प्रिय पत्नी, प्रिय पुत्री के शरीर में से जीव निकलते ही लोग कहने लगते हैं कि हंसा तो चला गया, अब मिट्टी पड़ी है। इसका तो जल्दी से क्रिया-कर्म कर देना चाहिए। हम व्यामोहवश संसार के प्राणी-पदार्थों को अपना मानकर उनकी ममता किये बैठे रहते हैं। उनके अहंकार में हम इतराते रहते हैं। परन्तु श्वास निकलते ही अपना क्या रह जाता है! और कभी भी श्वास निकल सकता है। ऐसे क्षणिक जीवन का अहंकार कैसा! ऐसे स्वप्न में मिले प्राणी-पदार्थों का ग़रूर क्यों! इन विरानी चीजों के लिए हिंसा-हत्या, लूट-खसोट क्यों!

"छेव परे तब को समुझाई॥" जब मौत का कुल्हाड़ा हम पर पड़ेगा, तब हमें कौन सत्य समझा सकेगा! संसार में बड़े-बड़े धोखे हैं। कितने लोग जीवनभर कभी सत्संग में नहीं बैठते। वे कोई धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुस्तक नहीं पढ़ते। उनको कभी ज्ञान की चर्चा अच्छी ही नहीं लगती। परन्तु मर जाने पर उनके परिवार वाले पुरोहित बुलाकर उनके कान में मन्त्र दिलाते हैं। जब तक सुनने वाला था, उसने ज्ञान की बातों को सुनने की इच्छा नहीं की। अब जब सुनने वाला रहा नहीं, तब कान में मन्त्र फूंकने से क्या फायदा!

जब तक इन्द्रियां सबल हैं, अंग सुदृढ़ हैं, रोग दूर हैं, बुढ़ापा नहीं आया है, तब तक ही अपने कल्याण-साधन का प्रयत्न कर लेना चाहिए। मौत तो किसी भी अवस्था में आ सकती है। जब माता के गर्भ में से ही जीव का शरीर छूटने लगता है, तब किस अवस्था का विश्वास किया जाये कि इसमें मौत नहीं आयेगी। अतः हमें वर्तमान में ही सावधान हो जाना चाहिए।

वासना का अन्त कर देना जीवन को स्वर्गमय, सुखमय, आनन्दमय एवं मुक्त बनाना है। जीवन में ही उपासना, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि साधनों से वासना का त्याग किया जा सकता है। वासना से परे जीवन सारे आग्रहों से रहित हो जाता है। जिसने सभी वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में कहीं भी मानसिक पीड़ा एवं टीस नहीं रह जाती। वासना से सर्वथा छुटा हुआ जीवन 'आनन्द समुद्र के लहरि अगाध', 'बसे आनन्द अटारी', 'आनन्द सिंधु अहंतातीता' एवं 'सो जन सदा अनन्दा' होता है।

हर मानव के जीवन में यही प्रबल इच्छा रहती है कि हम सदैव आनंदित रहें, पूर्ण सुखी रहें। परन्तु जो सुख एवं आनन्द एकरस, निरन्तर तथा स्थायी हो, वह विषयों के संयोग में नहीं है। विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सारे सुख क्षणिक हैं। उनमें राग बनकर पीछे केवल दुख होता है। स्थायी सुख एवं आनन्द विषयों से रहित होने में है। जब हमारे मन से विषयों की वासनाएं सर्वथा निकल जाती हैं, तब हम सुख का सागर पा जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "छेव परे कहु अन्त न पाया।" मौत हो जाने के बाद वासनाओं के अन्त होने की बात ही नहीं उठती। शरीरांत के बाद तो जीव वासनाओं के वशीभूत होकर पुनः भटकता है। वासनाओं का अन्त तो जीवनकाल में ही संभव है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहहिं कबीर अगमन गोहराया।" मैं पहले ही सावधान करता हूं। यदि परमसुख के धाम में पहुंचना चाहते हो, तो वासनाओं का त्याग करो। इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है अनन्त सुख का।

फल छंद

मूल चौंतिस वर्ण यौगिक,
वैखरी सुविचार भौ।
सिद्धान्त सबका लक्ष्य क्या,
यह भेद आप सम्हार भौ॥
उद्वेग किसको होत है,
को शान्त करि निरधार भौ।
जो जीव चिद् अपरोक्ष सत्ता,
सत्य सत स्वीकार भौ॥

चौपाई

वचन रचन सब अर्थ कलापक।
है अतीत पारख चिद् जापक॥
तदपि वचन गहि अर्थ सुसाधक।
छेनी गहि बेड़ी करु बाधक॥

विप्रमतीसी

हेतु छन्द

सब काल में सब विश्वहित,
सब हेतु सबका स्वत्व है।
नहिं संकुचित सन्मार्ग रविवत,
सत्य देश स्वमत्व है॥
भव द्वन्द्व फल न रंच,
मंगलमय हृदय सद्गत्व है॥
गुण-दोष मिश्रित भिन्न निर्णय,
हंसराज वदत्व है॥

दोहा

जहँ जैसो सन्मार्ग में, संकुल विघ्न रुकाव।
जस व्याधी तस औषधी, करुणानिधि समझाव॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

चतुर्थ प्रकरण : विप्रमतीसी

पुरोहित ब्राह्मणों को चेतावनी और मानवीय एकता पर प्रकाश

सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी। हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी॥ 1॥
ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने। घरमा यज्ञ प्रतिग्रह आने॥ 2॥
जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म धर्म मति बैठि बखाने॥ 3॥
ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा॥ 4॥
प्रेत कनक मुख अन्तर बासा। आहुति सत्य होम की आसा॥ 5॥
कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं॥ 6॥
सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई॥ 7॥
कर्म अशौच उच्छिष्टा खाई। मति भ्रष्टा यम लोग सिधाई॥ 8॥
नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये॥ 9॥
स्वारथ लागि रहे बे काजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा॥10॥
राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा॥11॥
कर्म पढ़ें और कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं॥12॥
निष्कर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै॥13॥
भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं॥14॥
देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम केदासा॥15॥
जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥16॥
पाप पुण्य कै हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा॥17॥
ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे॥18॥
बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहिं लगावै॥19॥
ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे॥20॥
बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊँच नीच कहु काहि जोहारा॥21॥
ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥22॥
एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा॥23॥

एक चाक सब चित्र बनाई। नाद बिन्द के मध्य समाई॥24॥
व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती॥25॥
राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै॥26॥
हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई॥27॥
स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा॥28॥
हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा॥29॥
कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना॥30॥

साखी—बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर।
जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और॥ 1॥

शब्दार्थ—विप्रमतीसी=विप्र+मति+तीसी (तीस चौपाइयों में आधुनिक ब्राह्मणों की मति का वर्णन)। हरि=अज्ञानहारी सद्गुरु या ज्ञान। प्रतिग्रह=ग्रहण, स्वीकार, दान लेना। शांति=ग्रहशांति। पाँति=मंत्र पंक्ति। प्रेत=मरा हुआ, मृतक शरीर, कल्पित योनि। कनक=सोना। अन्तर=मन में। बासा=वासना। अशौच=मृतकर्म। उच्छिष्टा=जूठा, प्रेत-पितर को अर्पित किया हुआ। डाजा=जलाना। कृतम=बनावटी, मूर्ति, पिंड आदि। अभ्यन्तर=भीतर, हृदय। ऊड़ै=नष्ट। पासा=फंदा। बहनी=वह्नि, अग्नि अथवा वहन करना, ढोना, तारना, जहाज। ई गृह=यह जन्म, स्वार्थ। ऊ गृह=भविष्य जन्म, परमार्थ। साहु=श्रेष्ठ, सच्चे। भीतर भेद=हृदय में कपट। मनमुखहिं=मन्मुखी, जो गुरुमुख न हो। भनीजै=कहे जाते हैं। पीचासन=पंचासन, उत्तम आसन अथवा पीच+असन—जल-भोजन। जोहारा=प्रणाम, अभिवादन अथवा हार गये। मध्य की बानी=बीच की वार्ता, बड़ा तुच्छ विचार। बानी=लक्षण। एक चाक=कर्म या माता का गर्भाशय। नाद=प्राण। बिन्द=वीर्य। भौती=भौतिक शरीर। वाद=बकवाद। हंस=जीव। धौं=भला। स्याह=काला (तमोगुणी शूद्र)। सफेद=उज्ज्वल (सतोगुणी ब्राह्मण)। राता=रक्त वर्ण, लाल (रजोगुणी क्षत्रिय)। पियरा=पीला (रज-तम युक्त वैश्य)। अबरण=रंगरहित, वर्णरहित (ईसाई, मुसलमानादि)। बरण=रंग, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र)। ताता=गरम। सियरा=शीतल, ठंडा। बूढ़ो=बुड्ढा। बारा=बालक। पै=दोष। धक्का=धका, किनारा, बन्दरगाह, नदी या समुद्र का तट।

भावार्थ—मैं तीस चौपाइयों में आधुनिक पुरोहित-ब्राह्मणों की बुद्धि का वर्णन करने जा रहा हूं। आप सब मिलकर सुनिए! सच्चे सद्गुरु के ज्ञान बिना, भरी नावका डूब जाने के समान, इनका ब्राह्मणत्व डूब गया॥ 1॥ ब्राह्मण कहलाकर भी इन्हें ब्रह्म का वास्तवकि ज्ञान नहीं है। बस,

ये यजमानों से हिंसात्मक-अहिंसात्मक यज्ञादि कराकर अपने घर में दान ले आना यही अपना व्यवसाय मान लिये हैं॥ 2॥ जिसने सृजन किया उसको नहीं पहचानते। कर्मकांड में ही धर्म-बुद्धि बनाकर और गद्दियों पर बैठकर उसी का व्याख्यान करते हैं॥ 3॥ ग्रहण, अमावस्या, यम-द्वितीया आदि के नाम से दूषित दान लेते हैं। शनि आदि टेढ़े ग्रह का भ्रम डालकर उनकी शांति के लिए मंत्रों का पाठ करते हैं। काली-भैरव आदि कल्पित तामसी देवी-देवताओं की पूजा करते-कराते हैं और इसी में अपने प्रयोजन की सिद्धि समझते हैं॥ 4॥ किसी के मरते समय उसके मुख में सोना रखवाते हैं कि यह प्रेत न हो जाये; परन्तु अपने मन में वासना रहती है कि सोना हमें मिलेगा। घृत, जौ, मेवादि सामग्री अग्नि में हवनकर उससे यथार्थ फल मानते हैं और उसके पीछे दक्षिणा पाने की आशा रखते हैं॥ 5॥ ये संसार में उत्तम कुल के कहलाते हैं, परन्तु यजमान से बारम्बार मध्यम कर्म करवाते हैं॥ 6॥ पत्नी-बच्चे मिलकर आपस में जूठा खाते हैं, परन्तु हरिभक्तों एवं संतों को अछूत मानकर उनसे भेदभाव रखते हैं॥ 7॥ कर्म अत्यन्त अशुद्ध हिंसाप्रयुक्त करते हैं तथा मृतकर्म आदि का दान लेते और श्राद्ध, नितकुम, पिंडदान, तिथि, तेरही आदि में कल्पित प्रेत-पितरों को अर्पित कर उनका जूठा भोजन करते और उन्हीं वस्तुओं को अपने घर में लाते हैं। इस प्रकार बुद्धिभ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं॥ 8॥ नहा-धोकर उत्तम होकर चलते हैं, किन्तु विष्णुभक्तों एवं संतों को देखकर दुखी हो जाते हैं कि इनके प्रभाव से हमारे कर्मकांड में बाधा न पड़ जाये॥ 9॥ स्थूल स्वार्थ-बुद्धि में लगकर बिना काम-के-काम संतों की निंदादि करते हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि ब्राह्मणत्व क्या है तो आग के समान क्रोध में जलने लगते हैं॥ 10॥ इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के उच्च आदर्श एवं क्रांतिकारी श्री कृष्ण के गीतादि प्रवचन के उपदिष्ट सद्गुणों को धारण करने की भी आशा का परित्याग कर दिया है। केवल वाणी का अध्ययन-मननकर कृत्रिम जड़मूर्ति, कर्मकांड, भूत-भैरव के दास बन गये हैं॥ 11॥

केवल कर्मकांडात्मक शास्त्रों को पढ़ते हैं और कर्मकांड करने-कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि कोई इनसे मुक्ति-गति का रास्ता पूछता है, तो ये उसे कर्मकांड, यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ ही बताते हैं॥ 12॥ कर्मकांड से विरक्त भक्ति एवं ज्ञानमार्गावलंबियों की निन्दा करते हैं। जो इनसे कर्मकाण्ड करावे और इन्हें दक्षिणा दे, ये उसी से प्रेम करते हैं॥ 13॥ ये कहते हैं कि हमारे हृदय में भगवान की भक्ति है; परन्तु भक्ति-विरोधी हिरण्यकश्यपु का मार्ग

चलाते हैं—कोई संतों के साथ बैठने लगे तो उसका ये विरोध करते हैं, संतों की निन्दा करते हैं॥ 14॥ इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो, हृदय में ज्ञान-प्रकाश न होने से ये कृत्रिम कर्मकांड के गुलाम बन गये॥ 15॥ इनको पूजने से मानव का पाप नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु इनके नाम का स्मरण करने से मानव भवसागर में डूब जाता है॥ 16॥ इन्होंने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों में ले रखा है। ये जिसे चाहें पाप कहें और जिसे चाहें पुण्य कहें। इन्होंने कल्पित पाप-पुण्य के फंदे में फंसाकर और जगत के लोगों को मारकर उन्हें विनष्ट कर दिया है॥ 17॥ ये कुल-गुरु, कुल-तारक एवं जगत-जहाज कहलाते हैं, किन्तु ये मनुष्यों के लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ दोनों बिगाड़ते हैं॥ 18॥ त्याग-वैराग्य-रहित घर-गृहस्थी के मोह में डूबे हैं, किन्तु सच्चे और जगतपूज्य कहलाना चाहते हैं। मन में भेदभाव रखकर मनुष्यों के बीच में दीवार खड़ी करते हैं, और मन्मुखी व्यवहार करते-कराते हैं॥ 19॥ इस प्रकार आचरण रखने वाले तथाकथित विप्र लोग अपने आप को भू-सुर कहलाना चाहते हैं और जनता से आशा रखते हैं कि जैसे बतायें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे हमें उच्च आसन, जल, भोजन आदि उनसे मिलें॥ 20॥

ये मिथ्या ब्राह्मणत्व के अभिमान में डूब गये। इन्होंने अपने आप को सम्हाला नहीं। इनके सामने जब कोई संत मिल जाते हैं, तब ये उनका इसलिए नमस्कार नहीं करना चाहते कि वे पता नहीं किस वर्ण या जाति के हैं। अथवा ये एक मानव जाति के बीच में ऊंच-नीच की कल्पित धारणा पेशकर अपने आप को खो रहे हैं॥ 21॥ ऊंच-नीच तो मनुष्य अपने अच्छे-बुरे आचरणों के अनुसार बीच में बन जाता है। किन्तु सबकी शरीर-रचना में एक ही प्रकार का पवन और एक ही प्रकार का पानी लगा है अर्थात प्राण तथा वीर्य सब में एक-से लगे हैं॥ 22॥ एक ही मिट्टी है, एक ही कुम्हार है और एक ही समान तत्त्व सबकी रचना करने वाले हैं॥ 23॥ कुम्हार के एक ही चाक पर जैसे सारे बरतन बनते हैं, वैसे ही माता के एक जैसे गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। सबके शरीर प्राण और वीर्य के संयोग से बने उन्हीं के रूप हैं॥ 24॥ सबके शरीर के भीतर एक ही ज्ञान-प्रकाश फैला हुआ है। अर्थात सब में एक ही प्रकार चेतना विद्यमान है। फिर क्या भौतिक शरीर के नाम अलग-अलग रखने से अंतर्ज्योति चेतना के गुण अलग-अलग हो जायेंगे॥ 25॥ कहलाते हैं देव और कर्म करते हैं राक्षस के—मानवता का शोषण। बकवाद करते हैं। इन्हें गोपाल अच्छे नहीं लगते। अर्थात उनके सत्योपदेश पर नहीं चलते॥ 26॥

जब जीव शरीर को छोड़कर अलग होता है, तब भला उसकी कोई क्या जाति कहेगा!॥ 27॥ उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा!॥ 28॥ कोई हिन्दू कहेगा कि मुसलमान, बूढ़ा कहेगा कि बालक, नारी कहेगा कि पुरुष! जरा इस पर विचार करो॥ 29॥ सद्गुरु कहते हैं कि किसको कहा जाये! लोग निर्णय की बातें नहीं सुनते! यही इनमें बुराई है जो अपने दोषों पर विचारकर उनका त्याग नहीं करते॥ 30॥

ये मिथ्या भ्रम की धारा में पहले से बह रहे हैं। आज भी चारों ओर हाथ मारते हुए बहे जा रहे हैं। हे संतो! यदि ये हित की बातें नहीं मानते हैं, तो भी इन्हें दो बातें समझाने की चेष्टा करो॥ 1॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस प्रकरण में ब्राह्मण कहे जाने वाले बन्धुओं का या कहना चाहिए पुरोहित-ब्राह्मणों का जो खाका खींचा है, वह बड़ा ही मार्मिक है। बीजक के प्रसिद्ध इंग्लिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने सच ही लिखा है कि कबीर साहेब मुसलमानों के विषय में कुछ खोज-बीनकर कहते हैं। परन्तु उनका मन हिन्दू-विचारों, हिन्दू पौराणिकता आदि में ओतप्रोत था।[1] इस प्रकरण में जिस बारीकी से पुराहित-ब्राह्मणों के विषय में सद्गुरु ने अपने विचार रखे हैं, उनको देखते हुए कहना पड़ता है कि कबीर साहेब हिन्दुत्व की कितनी गहराई में डूबे थे तथा उसके विषय में कितना गहरा ज्ञान रखते थे।

इस पूरे प्रकरण को पढ़ जाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कबीर साहेब पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति कितने आकृष्ट थे। वे उनमें गलतियां नहीं रहने देना चाहते थे, और उनके कल्याण के लिए चिंतित थे। वे समझते थे कि ब्राह्मण हिन्दू-समाज के पथ-प्रदर्शक हैं और जब ये ही विचलित हैं, तो हिन्दू-समाज को कैसे रास्ते पर ला सकते हैं। वे उन्हें मीठे-कड़वे फटकार सुनाते हैं और प्रयत्नपूर्वक सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं।

---

1. The study of the Bijak certainly leaves a fixed impression that the basis of his mental equipment was Hindu. His apparent acquaintance with Mohammedan belief, customs and phraseology might easily be purely external and acquired. But with his Hinduism the case is entirely different. His mind is steeped in Hindu-thought and mythology, and his mother tongue is Hindi. (Ahmad shah : The Bijak of Kabir, p. 4)
   अर्थात—"बीजक का अध्ययन निश्चित रूप से एक गहरा प्रभाव उत्पन्न करता है कि उनके मानसिक-रुझान का आधार हिन्दू था। मुसलमानी विश्वास, आचार तथा वर्णन शैली से उनका प्रत्यक्ष परिचय पूर्ण रूप से बाहरी और अर्जित था। परन्तु उनकी स्थिति हिन्दूत्व के साथ पूर्णतः भिन्न है। उनका मस्तिष्क हिन्दू विचारों तथा मान्यताओं से ओत-प्रोत है तथा उनकी मातृभाषा हिन्दी है।"

इस प्रकरण का नाम विप्रमतीसी—विप्र-मति-तीसी अर्थात तीस चौपाइयों में पुरोहित-ब्राह्मणों की मति का वर्णन है। वे कहते हैं कि इस प्रकरण को सब लोग मिलकर सुनो और सुधार करने की चेष्टा करो।

"हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।" हरि के बिना इनकी स्थिति वैसे ही दयनीय है जैसे किसी की भरी नावका डूब गयी हो। हरि किसे कहते हैं, इस पर विचार करना चाहिए। श्वेत द्वीप (ईरान) के पारसियों ने अहरुमज्द ईश्वर का नाम माना है। उनके प्रभाव से संस्कृत वालों ने उसे हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़ गया और हरि शब्द रह गया। यह हरि विष्णु-वाचक एवं ईश्वर-वाचक हो गया। यह घटना गुप्तकाल में घटी।[1] महाभाष्य और वैदिक साहित्य में हरि शब्द नारायणवाचक एवं विष्णुवाचक कहीं नहीं है।[2]

जो 'हरि' शब्द वैदिक साहित्य में इन्द्र या घोड़े के लिए है तथा वाल्मीकीय रामायण में 'वानर' के लिए, वह पारसियों के 'अहरुमज्द' शब्द के प्रभाव में गुप्तकाल में विष्णु तथा ईश्वरपरक हो गया। गुप्तकाल के बाद हरि-भजन की धूम बढ़ने लगी। कबीर साहेब के काल के पूर्व से ही 'हरि' शब्द अधिकृत रूप से ईश्वरवाचक हो गया था। कबीर साहेब ने इस शब्द को स्वीकार किया; परन्तु उन्होंने उसका अपना अर्थ दिया। परम्परा-प्राप्त शब्दों को अपना अर्थ देकर उन्हें स्वीकार करने से अपने विचारों को फैलाने में सुगमता होती है। यह प्रयास सभी समझदार विचारकों का रहा है। जैसे गीताकार को ही लिया जा सकता है। उन्होंने अपने पूर्व से चले आये 'सांख्य' और 'योग' शब्दों को गीता में स्वीकारा, किन्तु उनको अपना अर्थ दिया। 'यज्ञ' शब्द भी उन्होंने स्वीकारा; परन्तु बिलकुल नये अर्थों में। इसी प्रकार कबीर साहेब ने अपने युग के प्रचलित 'हरि' और 'राम' शब्दों को अपने अर्थों में स्वीकारा।

थोड़ा 'राम' शब्द पर विचार कर लें। वेद, वैदिक साहित्य, सूत्रग्रन्थ[3] एवं छह शास्त्रों में कही ईश्वर या परमात्मा के अर्थ में 'राम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में जब एक संक्षिप्त महाकाव्य "पौलस्त्य-वध"[4] (पुलस्त्य के पौत्र-रावण का वध) बना, जिसका नाम पीछे

---

1. गुप्तकाल 320 ई. से 510 ई. तक।
2. इस विषय को पीछे 34वें शब्द "हरिजन हंस दशा लिये डोले।" की व्याख्या में विस्तारपूर्वक देखें। आगे 137वीं साखी की व्याख्या में भी इस पर संक्षिप्त विचार किया गया है।
3. गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र।
4. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 4, श्लोक 7।

वाल्मीकीय रामायण हुआ, उसमें श्री राम की कथा नर-कथा के रूप में चित्रित हुई। उसके बाद ईसा के डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व तक उसमें श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार होने का प्रक्षेप हुआ। ईसा के बारह सौ वर्ष बाद अन्य रामायणों में श्री राम को ईश्वर सिद्ध करने का प्रयास चला। पहली बार अध्यात्म रामायण में श्री राम को परब्रह्म एवं जगत-नियंता माना गया।

इस प्रकार कबीर साहेब के काल तक 'राम' नाम परमात्मा-वाचक हो गया था। एक शरीरधारी को, जो जीवन में सुख-दुख भोगकर उसका अन्त करता है, जगत-रचयिता एवं जगत-पालक मानने की बात कबीर-जैसे स्वतंत्रचेता के मन में उतर ही कैसे सकती थी! किन्तु राम नाम अधिकृत रूप में फैल गया था। इसलिए उन्होंने राम नाम को भी स्वीकारा, परन्तु उसको अपना विवेकपूर्ण अर्थ देकर।

'हरि' और 'राम' दोनों शब्द कबीर साहेब ने बीजक में खूब लिया है। परन्तु इनको कई जगह खंडन में लिया और कई जगह मंडन में। यदि कोई अपनी कल्पित अवधारणा को हरि और राम कहता है, तो सद्गुरु उसका खंडन करते हैं, और यदि उन्हें सत्यज्ञान एवं अपनी आत्मा के लिए प्रयुक्त करता है, तो वे उसका समर्थन करते हैं।

सद्गुरु कबीर के ख्याल से हरि वह है जो हमारे विकारों का हरण करे, हमें सत्पथ में ले जाये। वह है सद्गुरु तथा सत्यज्ञान। अंततः अपना ज्ञानस्वरूप चेतन एवं आत्मा ही हरि है। इसी प्रकार हृदय में रमने वाले चेतन को उन्होंने राम कहा है।

सद्गुरु इस प्रकरण की प्रथम चौपाई में कहते हैं "हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।" अर्थात यथार्थ सद्गुरु, सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान बिना तुम्हारी नावका डूब गयी। अतएव जीवन के उद्धार के लिए हरि-भजन की आवश्यकता है, और वह है सच्चे सद्गुरु की शरण, उनकी सेवा। तभी सत्यज्ञान मिलेगा और अपने आप का बोध होगा।

"ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने" यह ब्रह्म और ब्राह्मण क्या है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़ता जाये या बड़ा हो, उसको ब्रह्म कहते हैं। अग्नि जलने से बढ़ती जाती है, इसलिए पुराकाल में उसको ब्रह्म कहा गया। जो उस ब्रह्म (अग्नि) की उपासना करता, उसमें आहुति डालता, उसको ब्राह्मण कहा गया। लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ. रागेयराघव ने लिखा है—"ब्रह्म, आदिरूप में अग्नि के चारों ओर इकट्ठे गोत्र का नाम था। जो सब कह दें, वही ब्रह्म का

कथन था। ब्रह्म, आगे चलकर सबका तो रहा, परन्तु पौरोहित्य हाथ में रखने वाले नेता बने और वे नेता ब्राह्मण कहलाने लगे। यह ब्रह्म जब विकसित हुआ, तब आर्यों में अनेक जातियां मिलीं। उनमें अपने-अपने विकास के अलग-अलग देवता थे। किसी का पुलस्त्य, किसी का कुछ। वे सब ब्रह्म के पर्याय बने।...इस ब्रह्म को पुरुष सूक्त में समाज का रूप समझा गया। वैदिक काल के बाद यह ब्रह्म प्रधान देवता बना क्योंकि स्रष्टा था। यह पुराने इन्द्र आदि, नाग आदि देवताओं से अपर माना गया। अपर मानना जातियों के विकास का लक्षण था, क्योंकि अपने-अपने देवता के लिए झगड़ा बंद हुआ, एक और बड़े देवता की खोज हुई और वह उपनिषद् का ब्रह्म बना। इसी ब्रह्म ने दर्शन के 'ब्रह्म' के रूप में विकास किया; और कालांतर में सहिष्णुता से ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रय में समस्त भारतीय जातियों के देवता अंतर्भुक्त हो गये और एक व्यापक परिवार बन गया।"[1]

इस प्रकार ब्रह्म शब्द अग्नि से चलकर अनेक रूपों में यात्रा करते हुए उपनिषद् का ब्रह्म बना। इस ब्रह्म का एक अर्थ जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। अर्थात वह जगतरूप है। यह भ्रामक है। दूसरा अर्थ ब्रह्म सबका अपना आत्मरूप है। अर्थात यह चेतन एवं आत्मा ही ब्रह्म है। जो इसको जानता है और जानकर इसमें स्थित है, वह ब्राह्मण है। उपनिषदों में यह बात कही गयी है कि जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द पकते-पकते उपनिषद्काल तक जिस तरह परिपक्व हुआ, वह आदरणीय है।

ब्राह्मण बड़ा प्यारा शब्द है। यह परम आदरणीय है। जो यह समझता है कि देह असत्य है और देह के भीतर रहने वाला चेतन परम सत्य है; वह देहाभिमान तथा विषयवासनाओं का त्यागकर अपने चेतनस्वरूप में ही रमता है। अपने चेतनस्वरूप में रमना ही ब्रह्म में रमना है, और यही ब्राह्मणत्व का लक्षण है। जो ऐसी स्थिति में हो, वही ब्राह्मण है। जो अपने से अभिन्न या भिन्न किसी प्रकार मानकर चेतन की उपासना करता है और जड़ासक्ति को छोड़ता है, वही ब्राह्मण है। इस तथ्यात्मक दृष्टि से बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, लाओत्जे, कनफ्यूसियस, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, दादू, पलटू, तुलसी, रैदास आदि महापुरुष ब्राह्मण हैं। नीचे के उदाहरण इन विचारों को पुष्ट करेंगे, मनन कीजिए—

---

1. महायात्रा गाथा 2/2/281-282।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)

भावार्थ—'शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकभाव—वे ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।'

जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत, वनपर्व 206/34)

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय में तत्पर और पवित्र है तथा काम-क्रोध जिसने जीत लिया है; उसे देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

वज्रसूची-उपनिषद् में पाण्डु के प्रसिद्ध पुत्र युधिष्ठिर ने वैशम्पायन से करबद्ध नमस्कार कर पूछा—ब्राह्मण किसे कहते हैं? ब्राह्मणों के लक्षण क्या हैं? वैशम्पायन बोले—

क्षान्त्यादिभिर्गुणैर्युक्तस्त्यक्तदण्डो निरामिषः।
न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम्॥ 34॥

भावार्थ—क्षमा-शांति आदि गुणों से युक्त होना, शस्त्र का त्याग कर देना, मांस-भक्षण न करना, किसी जीव की हत्या न करना—ब्राह्मण का पहला लक्षण है॥ 34॥

यदा सर्वं परद्रव्यं पथि वा यदि वा गृहे।
अदत्तं नैव गृह्णाति द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम्॥ 35॥

भावार्थ—घर में या सड़क पर—कहीं भी पड़ी हुई दूसरे की वस्तु बिना दिये नहीं लेना—यह ब्राह्मण का दूसरा लक्षण है॥ 35॥

त्यक्त्वा क्रूरस्वभावं तु निर्ममो निष्परिग्रहः।
मुक्तश्चरति यो नित्यं तृतीयं ब्रह्मलक्षणम्॥ 36॥

भावार्थ—क्रूर स्वभाव को छोड़कर दयावान होना, ममता-स्वार्थ त्यागना, अधिक संग्रह न करना, संसारियों के सम्बन्ध को छोड़कर तथा स्वतंत्र होकर सदैव विचरना—यह ब्राह्मण का तीसरा लक्षण है॥ 36॥

देवमानुष नारीणां तिर्यगयोनिगतेष्वपि।
मैथुनं हि सदा त्यक्तं चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम्॥ 37॥

भावार्थ—देवता हो, मनुष्य हो तथा पशु ही क्यों न हो, जिसने मैथुन-कर्म सदैव के लिए त्याग दिया है—वह ब्राह्मण के चतुर्थ लक्षण से युक्त है॥ 37॥

सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूत दया शौचं तपः शौचञ्च पञ्चमम्॥ 38॥

भावार्थ—सत्य ही पवित्रता है, करुणा ही पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह ही पवित्रता है, सब प्राणियों पर दया करना ही पवित्रता है, धर्म की रक्षा के लिए कष्ट सहना रूप तप ही पवित्रता है (इन सबसे युक्त रहना)—ब्राह्मण का पांचवां लक्षण है॥ 38॥

पञ्चलक्षणसम्पन्नः ईदृशो यो भवेद् द्विजः।
तमहं ब्राह्मणं ब्रूयां शेषाः शूद्रा युधिष्ठिरः॥ 39॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! उपर्युक्त पांचों लक्षणों से जो सम्पन्न है, वही द्विज है; मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं, बाकी दूसरे सब शूद्र हैं॥ 39॥

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणौ भवेत्।
चाण्डालोऽपि हि वृतस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर॥ 40॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! कुल से, जाति से और बहुत-सी क्रिया-कलापों से कोई ब्राह्मण नहीं होता। यदि कोई भंगी भी उत्तमगुणों से युक्त है तो वह ब्राह्मण है॥ 40॥

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥ 41॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! प्राचीनकाल में, संसार में एक ही वर्ण (मानव समाज) था। पीछे कर्मों के अनुसार चारों वर्णों का विभाग हुआ॥ 41॥

सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः।
एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजाः॥ 42॥

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति अधोद्वार से है, सभी का शरीर मरणशील है, सबके शरीर मल-मूत्रों से भरे हैं, सबमें एक ही प्रकार से इन्द्रियां और विषय हैं; अतएव शीलगुण (उत्तम आचरण) वाला ही ब्राह्मण है॥ 42॥

शूद्रोपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥ 43॥

भावार्थ—शील तथा सद्गुणसम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मण है और आचरणहीन ब्राह्मण शूद्र से भी गया-बीता है॥ 43॥

न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः।
जीवितं यस्य धर्मार्थे परार्थे यस्य जीवितम्।
अहोरात्रं चरेत्क्षान्तिं तं देवा ब्राह्मण विदुः॥ 45॥

भावार्थ—हे राजन्! जाति नहीं देखी जाती, सद्गुण ही कल्याणकारी होते हैं, जो धर्म के लिए, परोपकार के लिए जीता है और जो रात-दिन क्षमाशील है उसको देवता (उत्तम) लोग ब्राह्मण कहते हैं॥ 45॥

परित्यज्य गृहावासं ये स्थिता मोक्षकाङ्क्षिणः।
कामेष्वसक्ताः कौन्तेय ब्राह्मणास्ते युधिष्ठिर॥ 46॥

भावार्थ—हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! जिसने घर-गृहस्थी में रहना त्याग दिया है, जो विषय-कामनाओं का त्यागी तथा मोक्षसाधन-परायण है, वह ब्राह्मण है॥ 46॥

अहिंसा निर्ममत्वं चामतकृत्यस्य वर्जनम्।
रागद्वेष निवृत्तिश्च एतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥ 47॥

भावार्थ—किसी जीव को कष्ट न देना, ममतारहित रहना, धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आचरण न करना, राग-द्वेष का त्याग करना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं॥ 47॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम्।
कायेन मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ 52॥

भावार्थ—जो शरीर, मन और वचन से किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता, वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है॥ 52॥

अस्माभिरुक्तं यदिदं द्विजानां मोहं निहन्तुं हतबुद्धिकानाम्।
गृह्णन्तु सन्तो यदि युक्तमेतन्मुञ्चन्त्वथायुक्तमिदं यदि स्यात्॥ 53।

भावार्थ—जिनकी बद्धि मारी गयी है ऐसे ब्राह्मणों के अज्ञान अर्थात विपरीत धारणा को मिटाने के लिए यहां जो कुछ कहा गया है, यदि वह उचित हो तो गुणग्राही सज्जन ग्रहण करें, यदि अनुचित प्रतीत हो तो त्याग दें॥ 53॥

श्री वेदव्यास जी महाभारत, शांतिपर्व के 189वें अध्याय में कहते हैं—

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥ 3॥

भावार्थ—जो शौच एवं सदाचार का पालन तथा उत्तम यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता है, गुरु के प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रत का पालन करता तथा सत्य में तत्पर रहता है, वह ब्राह्मण है॥ 3॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ 4॥

भावार्थ—जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है॥ 4॥

महाभारत के नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर का कथन है—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

(महाभारत, वनपर्व 180/31-33)

भावार्थ—हे महामति सर्प (नहुष)! यहां जाति का अर्थ मनुष्यत्व है। अर्थात पूरा मनुष्य-समूह एक जाति है। ब्राह्मण आदि रूढ़ वर्णों का आपस में इतना मिश्रण हो गया है कि उनकी अलग से परीक्षा करना कठिन है। क्योंकि सभी रूढ़ वर्णों एवं जातियों के पुरुषों ने सदा से सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा किये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील एवं सदाचार को ही प्रधान माना है, रूढ़ वर्ण एवं जाति को नहीं।

महात्मा बुद्ध कहते हैं—

सब्बसञ्ञोजनं छेत्त्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जो सारे बंधनों को काटता है, भय नहीं करता, जो संग तथा आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

बारि पोक्खरपत्ते व आरग्गरिव सासपो।
यो न लिप्यति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—कमल के पत्ते पर जल तथा आरे के नोक पर सरसों जैसे नहीं ठहरता, वैसे जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स पुरे च पच्छा च मज्झ च नत्थि किञ्चनं।
अकिंचन अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जिसके पहले, पीछे और बीच में कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित, आदानरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

(धम्मपद, 397, 401, 421)

"घर मा यज्ञ प्रतिग्रह आने।" इस प्रकार ब्रह्म को न जानना तथा उसमें न रमना और केवल दूसरे के यहां यज्ञादि कर्मकांड करवाकर दान घर में ले आना—इतना ही ब्राह्मणत्व समझना बहुत स्थूल-बुद्धि का लक्षण है।

"जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म धर्म मति बैठि बखाने॥" जिन जड़ और चेतन से सबकी रचना होती है, उनकी परख नहीं करते। जहां तक जड़सृष्टि और चेतनसृष्टि का विस्तार है उनका कोई कारण अवश्य है।

भावनावादी लोग कहते हैं कि इन सबको किसी पृथक ईश्वर ने बनाया है और विवेकवादी कहते हैं कि विचारना यह है कि सृष्टि है क्या। मूल जड़ तत्त्व नित्य हैं। उन्हें कोई बनाता नहीं है। उनसे पृथक असंख्य चेतन हैं। वे भी स्वतंत्र-सत्ता वाले हैं। क्योंकि चेतन जड़ से सर्वथा विलक्षण हैं और सर्वथा विलक्षण द्रव्य स्वतः, नित्य, अनादि एवं अनंत होता है। इस प्रकार जड़ और चेतन किसी की रचना नहीं है, किन्तु इनकी स्वतः एवं नित्य सत्ता है। इनके गुण-धर्मों से सृष्टि होती है, यह प्रत्यक्ष है। सृष्टि दो प्रकार की है, एक जड़ात्मक सृष्टि, दूसरी जड़-चेतनात्मक सृष्टि। पेड़, पहाड़, नदी, झरना, बादल, वर्षा, छह ऋतुओं का परिवर्तन आदि केवल जड़ात्मक सृष्टि है, और छोटे-बड़े प्राणियों की देहें, नाना विद्याएं, कलाएं, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, वेद-शास्त्र, साहित्य आदि जड़-चेतनात्मक सृष्टि है। जड़ात्मक सृष्टि तो केवल जड़ तत्त्वों के संयोग का फल है तथा जड़-चेतनात्मक सृष्टि जड़-चेतन के संयोग से है। भावनावादी एक कल्पित ईश्वर द्वारा सृष्टि होने की अवधारणा करता है जो केवल कल्पना ही है और सत्य ज्ञान के अभाव का फल है; परन्तु विवेकवादी अपने विवेक से सृष्टि के मूल कारणों पर विचारकर तथ्य की गहराई में पहुंचते हैं। इस प्रकार जड़-चेतन के भेद को समझकर तत्त्वबोध की गहराई में पहुंचना पांडित्य के लक्षण हैं, न कि केवल कर्मकांड को ही बड़ा भारी धर्म मानकर उसी का बैठकर व्याख्यान करते रहना।

"ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा॥" अर्थात ग्रहण, अमावस्या और द्वितीया एवं यमद्वितीया तथा शांति के नाम पर अनेक प्रकार की पूजा करवाना यह सब केवल दान-दक्षिणा पाने के लिए ही है।

सामान्य जनता और पंडित लोग भी यह विश्वास करते हैं कि चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का कारण है राहु का उन्हें ग्रसना एवं निगल जाना।

भारत में वराहमिहिर[1] प्रसिद्ध खगोलवेत्ता हो गये हैं। इनका काल 507 से 587 ई. के मध्य माना जाता है। आपने लिखा है—"चन्द्रग्रहण में चन्द्र पृथ्वी की छाया में आ जाता है तथा सूर्यग्रहण में चन्द्र सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्र आ जाता है। ग्रहणों के इन कारणों को पहले के आचार्य अपनी दिव्यदृष्टि से जानते थे। राहु ग्रहणों का कारण

1. कहा जाता है वराहमिहिर उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के दरबारी थे। कुछ लोगों का कहना है कि राजा नौशेरवां (531-579 ई.) के दरबार में वराहमिहिर उच्च पद आसीन थे। वराहमिहिर भारत के प्रसिद्ध गणित ज्योतिषी हुए हैं।

नहीं है, यही सत्य स्थिति है जिसे शास्त्र घोषित करता है।"[1]

आज ईसा की बीसवीं सदी के लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भारतीय गणित ज्योतिषी वराहमिहिर ने ग्रहण के विषय में इतनी वैज्ञानिक घोषणा कर दी थी। इतना होने पर भी आज तक पत्राधारी पंडित जनता में भ्रम फैलाते रहते हैं कि सूर्य तथा चन्द्रमा को राहु ग्रसता है इसलिए उसके उपलक्ष्य में दान करो।

वराहमिहिर ने सूर्य तथा चन्द्रमा के ग्रहण का कारण तो ठीक बताया, परन्तु पुरोहित-पंडितों के दान के सम्बन्ध में एक काल्पनिक व्यवस्था सुरक्षित रखी। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"वराहमिहिर ने श्रुति, स्मृति, सामान्य विश्वास एवं ज्योतिष के सिद्धान्त का समाधान करने का प्रयत्न किया है, और कहा है कि एक असुर था जिसे ब्रह्मा ने वरदान दिया कि ग्रहण पर दिये गये दानों एवं आहुतियों से तुमको सन्तुष्टि प्राप्त होगी। वही असुर अपना अंश ग्रहण करने को उपस्थित रहता है और उसे लाक्षणिक रूप से राहु कहा जाता है।"[2] वामन काणे जी वराहमिहिर के इस ऊलजलूल समाधान पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"बुद्धिवाद, सामान्य परम्पराएं एवं अन्धविश्वास एक साथ नहीं चल सकते।"[3]

सूर्य और चन्द्रग्रहण कैसे होते हैं, इन्हें आज-कल एक किशोर भी जानता है, जो साधारण स्कूल में पढ़ता है, कि चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी जब एक सिधाई में आ जाते हैं तब आड़ हो जाने से पीछे वाला नहीं दिखता। इसमें राहु आदि का कुछ चक्कर नहीं है। न इसमें कोई पाप है और न पुण्य। फिर भी आज के इस वैज्ञानिक युग में अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग ग्रहण के समय भोजन नहीं करते हैं, ग्रहण के बाद स्नान करते हैं, दान करते हैं। स्नान-दान अच्छी बात है; परन्तु अन्धविश्वासपूर्वक नहीं होने चाहिए। स्नान मनुष्य को नित्य करना चाहिए। पवित्रात्माओं को सेवा की दृष्टि से, अभावग्रस्तों को करुणा की दृष्टि से एवं सार्वजनिक संस्थानों को लोकोपकार की दृष्टि से, समय-समय से दान करना अच्छा है। परन्तु अन्धविश्वास और पाखंड से बचना चाहिए।

जो जनता इस युग में भी अन्धविश्वास में डूबी है, उसका कारण है

---

1. भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः।
   इत्युपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः॥
   राहुरकारणमस्मिन्नियुक्तः शास्त्रसद्भावः॥ (वृहत्संहिता 5/8 एवं 13)
   (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृ. 91)
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 93।
3. वही,

पुराकाल से धर्मग्रन्थों में अन्धविश्वास की बातें लिखी गयीं और उन्हें सामान्य पंडित-पुरोहित फैलाते रहे। लिखा गया—"यदि कोई व्यक्ति ग्रहणकाल एवं संक्रांतिकाल में स्नान नहीं करता तो वह भावी सात जन्मों में कोढ़ी हो जायेगा और दुख का भोगी होगा।"[1] व्यास के मुख से कहलवाया गया है कि साधारण दिनों की अपेक्षा चन्द्रग्रहण का दिन एक लाख गुना फलदायक है, और सूर्यग्रहण पहले से दस गुना (अर्थात सामान्य दिन से दस लाख गुना)। यदि गंगा-जल स्नान के लिए पास में हो तो चन्द्रग्रहण एक करोड़ गुना अधिक फलदायक है। और सूर्यग्रहण दस करोड़ गुना फलदायक है।[2] चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण के बाद दान करने की लम्बी-चौड़ी बातें की गयी हैं। इसी प्रकार अमावस्या, द्वितीया, यमद्वितीया आदि अनेक तिथियों, व्रतों, त्योहारों आदि के आधार पर दान कराने की बात की जाती है।

हर प्राणी अनिष्ट एवं खतरे से घबराता है। मनुष्य ज्यादा समझदार होने से वह ज्यादा घबराता है। क्योंकि वह दूर तक सोचता है और भावी अनिष्ट की नयी-नयी कल्पनाएं कर उसके निवारण के लिए सदैव प्रयत्नवान रहता है। भारतीय परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी दुस्स्वप्नों, अपशकुनों एवं अनेक उपद्रवों से बचने के लिए सविता (सूर्य), वरुण, इन्द्र आदि से प्रार्थना की गयी है।[3]

भूचालों, ग्रहणों, धूमकेतुओं, उल्कापातों, अंधड़-दुस्स्वप्नों आदि से भयभीत होकर मनुष्यों ने उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का विधान रचा। इतना ही नहीं, अंग फड़कने, शरीर पर छिपकिली के गिरने आदि से भी आदमी आशा-निराशा के झूले में झूलता है। मनुष्यों के मन की कमजोरियों से फायदा उठाकर पुरोहितों ने शांति के बड़े-बड़े प्रपंच रच डाले हैं। धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों तथा पुराणों में ये अन्धविश्वास फैला दिये गये हैं। महाभारत तथा रामायण में पदे-पदे शकुन-अपशुकन का भ्रम मढ़ा है।

ग्रह आकाश में हैं, जड़ हैं। वे मनुष्य पर टेढ़े कैसे होंगे! यदि टेढ़े होंगे तो सभी मनुष्यों पर, जैसे सूर्य का प्रकाश सब पर बराबर है। यदि पूजा कर कोई सूर्य की गरमी नहीं शांत कर पाता, तो पूजा करके ग्रह की शांति कैसे हो

---

1. वही, भाग 4, पृष्ठ 92/स. म. पृष्ठ 130।
2. व्यासः इन्दोर्लक्षगुणं प्रोक्तं रवेर्दशगुणं स्मृतम्।
   गंगातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश॥
   (हेमाद्रिकाल पृष्ठ 384/धर्मशास्त्र का इतिहास 4/92)
3. ऋग्वेद 8/47/15-18; 10/36/4; 10/37/4; 2/43/1-3; 10/165/1-5 आदि।

सकती है? ग्रह-शांति भी पुरोहितों का कमाने-खाने का धंधा है। पुरोहित-पंडितों ने ग्रहों को लेकर समाज को काफी डरा रखा है।

"शांतिमयूख (पृष्ठ 12) जैसे कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों ने स्कन्द पुराण के पद्यों को उद्धृत करते हुए कहा है कि शनि की प्रतिकूल दृष्टि के कारण सौदास को मानुष-मांस खाना पड़ा, राहु के कारण नल को पृथ्वी पर घूमना पड़ा, मंगल के कारण राम को वनगमन करना पड़ा, चन्द्र के कारण हिरण्यकश्यपु की मृत्यु हुई, सूर्य के कारण रावण का पतन हुआ, बृहस्पति के कारण दुर्योधन की मृत्यु हुई, बुध के कारण पांडवों को उनके अयोग कर्म करना पड़ा तथा शुक्र के कारण हिरण्याक्ष को युद्ध में मरना पड़ा।"[1]

इसलिए धर्मसिन्धु नामक ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु की शांति के लिए ब्राह्मणों को दान देने का जो विधान बताया गया है वह अद्‌भुत है—हीरे, मोती, सोना, चांदी, पशु, अन्न, वस्त्र, शकर आदि बड़ी लम्बी लिस्ट है।

मत्स्यपुराण में बताया गया है कि राज्य की निर्विघ्न व्यवस्था के लिए 'अभय-शांति'। रोग-निवारण के लिए 'सौम्य-शांति'। दुर्भिक्ष तथा चौरत्वादि निवारण के लिए 'वैष्णवी-शांति'। पशु-रोग, महामारी, विश्वासघात आदि निवारण के लिए 'रौद्री-शांति।' नास्तिकता से बचाव तथा वेद-मार्ग की सुरक्षा के लिए 'ब्राह्मी-शांति'। अंधड़-तूफान तथा वात-रोग से बचने के लिए 'वायवी-शांति'। अनावृष्टि-निवारण के लिए 'वारुणी-शांति'। असामान्य प्रजनन के निवारण के लिए 'प्राजापत्य-शांति'। हथियारों की असामान्य-दशा के सुधार के लिए 'त्वाष्ट्री-शांति'। बच्चों के लिए 'कौमारी-शांति'। अग्नि के लिए 'आग्नेयी-शांति'। आज्ञा उल्लंघन में पत्नी एवं नौकरों के नाश में या घोड़ों के लिए 'गांधर्वी-शांति'। हाथियों के बीमारी-निवारण में 'आंगिरसी-शांति'। पिशाचों से बचने के लिए 'नैर्ऋती-शांति'। मृत्यु या दुस्स्वप्न की घटनाओं में 'याम्या-शांति'। धन-हानि में 'कौबेरी-शांति'। यदि पेड़-पौधे नष्ट हो रहे हों तो 'पार्थिवी-शांति'। जेष्ठा या अनुराधा नक्षत्र में उत्पात होते हैं, तो 'ऐन्द्री-शांति' की जाती है।[2] उदक शांति, महाशांति, अमृता महाशांति आदि का बड़ा-बड़ा प्रपंच पंडितों ने रच डाला है। क्योंकि वेद और वैदिक साहित्य में भी स्वर्ग, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषध, वनस्पति, विश्वदेव आदि सबको

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 356।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 351।

शांत करने की बात की गयी है।[1]

नवजात बच्चा मूलगडंत में पड़ गया है, सत्तइसा में पड़ गया है, इसके ऊपर ग्रह टेढ़ा हो गया है आदि चक्कर डालकर समाज के लोगों को खूब बेवकूफ बनाया गया है।

हां, प्राचीन लेखकों में महर्षि अंगिरा-जैसा कोई बिरला लेखक है जो इन पाखंडों का विरोध करता है। अंगिरा कहते हैं—"ग्रहों की गतियां, स्वप्न, निमित्त (आंख फड़कना आदि) तथा उत्पात काकतालीय न्याय फल देते हुए-से प्रतीत होते हैं। इसलिए विवेकवान इनसे भयभीत नहीं होते।"[2] काकतालीय का अर्थ होता है कि एक ताड़ का पेड़ गिरने वाला था, इतने में उस पर एक कौआ बैठ गया और पेड़ गिर गया, तो किसी अनाड़ी ने कहा कि कौआ के वजन से ताड़ का पेड़ गिर गया। वैसे ग्रह की गतियों, स्वप्नों तथा अंग फड़कने आदि से लाभ या हानि का संयोग हो जाना, या पूजा आदि करने से लाभ का संयोग हो जाना है। उस समय वह होना ही था और इनका संयोग हो गया। वामन काणे जी लिखते हैं—"इस अध्याय में वर्णित बहुत-सी शांतियां अब प्रचलित नहीं हैं। आजकल ऐसी हवा बह रही है कि वह जो शांतियां की भी जाती हैं, ऐसा लगता है, वे भी भविष्य में विलुप्त हो जायेंगी।"[3]

"प्रेत कनक मुख अन्तर बासा।" जब मनुष्य मरने लगता है तब पुरोहित लोग घरवालों से कहते हैं कि मरने वाले के मुख में सोना रख दो, अन्यथा वह भूत-योनि में चला जायेगा। भूत-प्रेत की तो कोई योनि ही नहीं होती। वस्तुतः पुरोहितों के मन में यह वासना रहती है कि यह सोना अंत में हमें मिलेगा।

"आहुति सत्य होम की आशा॥" आग में घी, मेवे, अन्न, औषधि आदि डालकर उससे कल्पित स्वर्गस्थ देवताओं को खुश करने का भ्रम तथा उनके द्वारा वृष्टि, स्वर्ग, अन्न, धन, पुत्र, राज्य, विजय आदि की प्राप्ति का भ्रम आज

---

1. द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः
ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः
सर्वं शान्तिः सामाशान्तिरेधिः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
2. गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा। ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति॥
(वेणी संहार 2/15) (धर्मशास्त्र का इतिहास, 4 /361)

3. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 372।

भी लोगों में व्याप्त है। यह एक पुराना अन्धविश्वास है। न आकाश में देवता हैं और न हवन से उनके खुश होने की कोई बात है।

जब राजा लोग किसी युद्ध में हजारों-लाखों की हत्या कर देते थे, तब युद्ध के पश्चात पंडित उन्हें बताते थे कि इस हत्या एवं खून-खराबा के पाप से बचने के लिए अश्वमेध यज्ञ करो और अश्वमेध यज्ञ का अर्थ होता था पुनः सैकड़ों निरीह मूक पशुओं की हत्या। नर-मेध के पाप से छूटने के लिए अश्वमेध। इन सारी भूलभुलैया के मूल में अज्ञान, प्रलोभन आदि थे।

लोग आज-कल यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उसे वैज्ञानिकता का जामा पहनाते हैं। वे कहते हैं हवन के धुआं से वातावरण शुद्ध होता है। उन्हें समझना चाहिए कि कोई भी आग कार्बन डाई आक्साइड (विषाक्त वायु) ही फैलाती है। वातावरण शुद्ध करने के लिए स्वच्छता एवं वृक्षारोपण उत्तम काम है।

"कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं॥" संसार में ब्राह्मण उत्तम कुल कहलाता है, परन्तु ये ब्राह्मण-पुरोहित अपने यजमानों से बारंबार निम्नकोटि के कर्म कराते हैं और स्वयं भी वैसा करते हैं। हिंसामय कर्मकांड, बलि के नाम पर जीव वध, मरे हुए लोगों के नाम पर किया हुआ दान उनके पास पहुंचेगा ऐसा झांसा देकर धन ऐंठना आदि निम्न कर्म ही तो हैं! ये ब्राह्मण कहलाते हैं तो इन्हें चाहिए था यजमानों को सच्चा ज्ञान देना, जीवदया का पथ बताना और सच्चा निर्णय करना, परन्तु उलटे चलने-चलाने लगे।

"सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई।" यह कितनी अजीब बात है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले लोग पत्नी-बच्चों के बीच में बैठकर परस्पर जूठा खाते हैं। विचारिये, इनके पत्नी-बच्चे कितने पवित्र होते हैं! परन्तु जो भीतर-बाहर सच्चे पवित्र होते हैं उन हरिभक्तों, संतों एवं महात्माओं में छूत लगाते हैं। कहते हैं कि भाई, इन साधुओं का छुआ हम नहीं खा सकते, क्योंकि इनकी जाति-पांति का कोई ठिकाना नहीं है। ब्राह्मणों को, जो सच्चाई है, उस शुद्ध आचरण की आवश्यकता नहीं है, अपितु कल्पित एवं झूठी जाति-पांति का अहंकार है।

"कर्म अशौच उच्छिष्टा खाई। मति भ्रष्टा यम लोक सिधाई॥" ये कर्म अशुद्ध करते हैं, हिंसायुत यज्ञ और बलिपूजा करते हैं, किसी के मर जाने पर मृत कर्म करते हैं, पिंडदान करवाते हैं, तिथि-तेरही को मृतकों के नाम से भोजन अर्पित करके फिर उनका जूठा भोजन खाते हैं। जब यह माना गया कि

मैंने मृतकों को भोजन अर्पित किया है और उसे उन्होंने खाया है, तब वह जूठा हो गया, और उसे पीछे स्वयं खाने से वासना तो खराब होगी ही। इस प्रकार मृत-भोज खाकर तथा अशुद्ध कर्म करके बुद्धि खराब होगी और उसका फल होगा यमलोक में जाना। वस्तुतः यमलोक बुरी वासनाएं हैं। जो ऐसे मलिन कर्म करेगा उसकी वासनाएं खराब होंगी ही।

"नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये॥" ब्राह्मण-पुरोहित प्रातःकाल ही नहा-धोकर कुछ पूजा-पाठ का टंट-घंट कर लिये और अपने आप को समाज में उत्तम होने का प्रदर्शन कर लिये, परन्तु यदि वे विष्णु-भक्तों तथा संतों को देखकर दुखी हो गये कि इनके ज्ञान-भक्तिमय उपदेशों के प्रचार-प्रसार से हमारे कर्मकांड में बाधा होगी, तो उनकी स्वच्छता एवं नहाने-धोने का क्या प्रयोजन रहा!

"स्वारथ लागि रहे बेकाजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा॥" स्थूल बुद्धि रखकर तथा भौतिक स्वार्थ में लगकर बिना काम के काम करते हैं। लोगों को निरर्थक कर्मकांडों में उलझाते हैं। धन के लाभ के लिए यजमानों के मन में भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त्त, दिशाशूल, योगिनी, दशा तथा अनेक भ्रांति डालकर उन्हें भ्रमित करते हैं और दुख निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालकर भोली जनता से धन ऐंठते हैं। यह सब 'बे-काजा' है, बिना काम का काम है।

"नाम लेत पावक जिमि डाजा।" यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि बताओ ब्राह्मणत्व क्या है! तो आग के समान क्रोध में उबलकर कटुवचन कहने लगते हैं। शास्त्रों में ब्राह्मणत्व निष्कामदशा एवं आत्मलीनता बतायी गयी है। इसकी याद दिलाने पर क्रोध में उबल पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि ये अपना सुधार नहीं करना चाहते हैं, केवल उचित-अनुचित धन प्राप्त करना चाहते हैं।

"राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा।" श्री राम के उत्तम आदर्श तथा श्री कृष्ण के गीतादि के उपदेशों पर भी इन्हें ध्यान नहीं है। बस, कर्मकांड कराने के लिए कुछ विद्या पढ़ ली और लोगों से कर्मकांड कराकर कमाने-खाने लग गये। इसके आगे पूर्वजों के उच्चादर्श एवं वेद-शास्त्रों के उत्तम उपदेशों पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। ये कुछ पढ़े-गुने भी, तो उसका फल हुआ कृत्रिम पूजा-पाठ के दास बन जाना। कितने पुरोहित विवेकवान संतों के द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार देखकर घबरा जाते हैं। और जनता में कुछ विपरीत प्रचार करना शुरू कर देते हैं। वे

समझते हैं कि संतों द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार होने से कर्मकांड क्षीण होगा और लोग पुरोहितों को छोड़ते जायेंगे।

"कर्म पढ़ें और कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं॥" पुरोहित केवल कर्मकांड कराने की विद्या पढ़ते हैं और यजमानों में कर्मकांड कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि ये शास्त्र, उपनिषद्, गीतादि पढ़ें तो इन्हें आत्मज्ञान की तरफ सूझ हो। यदि कोई इनसे आत्मकल्याण की भी बात पूछे, तो ये उससे पूजा-पाठ एवं कर्मकांड करने की ही बात करते हैं। जिससे इनकी पूजा-प्रतिष्ठा हो उसी के इर्द-गिर्द इनकी बुद्धि रहती है। ये यजमानों के मन में कर्मकांड की बात ही पक्की करते हैं।

"निष्कर्मी की निंदा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै।" यदि कोई कर्मकांड से हटकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि पथ की चर्चा करता है और भक्ति-ज्ञान के पथ में चलता है तो उसकी पुरोहित लोग निंदा करते हैं। कहते हैं कि ये मुड़िया कुलक्षणी हैं। अतः पुरोहित कर्मकांड के करने-कराने में ही प्रसन्न रहते हैं।

कोई भक्ति से चले, ज्ञान से चले और वैराग्य से चले, तो उससे पुरोहित को क्या मिलेगा! उसको तो दक्षिणा तभी मिलेगी जब लोग कर्मकांड करावें। इसीलिए आज से हजारों वर्ष पूर्व पुरोहितों ने विष्णुभक्तों पर उलझकर उन्हें गाली दी। उसने कहा—"जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता, वह शास्त्रों को पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ता जानता, वह पुराणों को पढ़ता है, जो पुराणों को नहीं पढ़ना जानता, वह खेती करता है, परन्तु जो सब प्रकार से भ्रष्ट हो जाता है, वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[1] पुरोहितों को भगवान-भक्तों से इसीलिए चिढ़ थी कि वे कह रहे थे कि जो भगवान की भक्ति में लीन है उसे कर्मकांड से कोई वास्ता नहीं है।

"भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं।" पुरोहित कहते हैं कि हम भी भगवान की भक्ति करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि बड़ी अच्छी बात, तो फिर हिरण्यकश्यपु का मार्ग क्यों पकड़ते हैं! कहावत के अनुसार हिरण्यकश्यपु प्रहलाद को विष्णु-भक्ति से रोकता था और उन्हें नाना कष्ट देता था। इसी प्रकार पुरोहित भक्तिपथ, कर्मकांड से रहित होने से उस पर चलने वालों को भला-बुरा कहते हैं।

---

1. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि 384, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ 153)

"देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम के दासा॥" कबीर साहेब पुरोहितों की बुद्धि पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो! ये भगवान का नाम लेते हुए भी भक्तिपथ के विरोधी हैं। वस्तुतः हृदय के भीतर ज्ञान का प्रकाश न होने से ही ये बनावटी कर्मकांड के गुलाम हो गये हैं। इसलिए कर्मकांड में पड़कर इन्होंने अपनी बुद्धि एवं सहजज्ञान का दुरुपयोग किया है, उसके ऊपर परदा डाला है।

"जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पुरोहितों के पूजने से जनता के पाप नहीं उड़ सकते हैं। अर्थात उनके पाप नहीं छूट सकते। जो स्वयं आत्म-विवेक से हीन बना भटक रहा है उसको पूजने से पूजकों का कल्याण कैसे होगा! निर्मल संतों की पूजा-उपासना कल्याणकारी है, कर्मकांड और कामना में डूबे हुए लोगों की उपासना कल्याणकारी नहीं है। बल्कि ऐसे लोगों के नाम का स्मरण होते ही भवसागर में डूबना है। सकामी की याद मलिनता ही में डूबायेगी।

"पाप पुण्य कै हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा।" पुरोहितों ने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों ले रखा है। वे जिसे पाप कहना चाहें उसे पाप कह दें और जिसे पुण्य कहना चाहें उसे पुण्य कह दें।[1] पाप-पुण्य की मानवीय विवेक से मानो कोई व्याख्या नहीं है। अतएव पुरोहितों ने मनुष्य की स्वतंत्रबुद्धि को मार कर संसार का विनाश कर डाला है।

ध्यान रहे, संसार के प्रायः हर संप्रदाय में कुछ कर्मकांड होता है। उसका पक्षधर पुरोहित होता है। पुरोहित यह नहीं चाहता कि भक्ति और ज्ञान मार्ग का ज्यादा प्रचार हो, क्योंकि इससे उसके कर्मकांड तथा आय में बाधा पड़ती है। इसलिए संसार के सभी संप्रदायों का पुरोहितवर्ग ज्ञान का प्रायः सब समय विरोधी रहा है। चाहे ब्राह्मण-परम्परा, चाहे ईसाई एवं इसलामी परम्परा और चाहे अन्य परंपरा के पुरोहित, वे अपने यजमानों को कर्मकांड के बल पर कल्पित स्वर्ग के टिकट देते रहे और ज्ञान का विरोध करते रहे।

हर नियम का अपवाद भी होता है। हर संप्रदाय के पुरोहितों में से ऐसे पुरोहित भी होते रहे और आज भी हैं जो उदार हैं। वे कर्मकांड की अतिशयोक्ति के नकलीपन को जानते हैं और उसकी गुप्त-प्रकट आलोचना भी करते हैं तथा सच्चे ज्ञान का समर्थन करते हैं। अंततः तो प्रायः सभी कर्मकांडी पुरोहित कर्मकांड के मिथ्यात्व को स्वीकारते हैं, भौतिक स्वार्थ के

---

1. इसके लिए 14वीं एवं 31वीं रमैनी की व्याख्या देखें।

कारण उसका गुण गाते रहते हैं।

"ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे॥" बहनी का अर्थ वहन करना, ढोना, ले जाना, तारना है, और बह्नि अर्थात आग भी है। सद्गुरु व्यंग्यात्मक ढंग से दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग करते हैं कि ये पुरोहित लोग जगत-तारक बनते हैं, कुल-बहनि—कुल-तारक एवं कुल-गुरु बनते हैं, परन्तु वस्तुतः ये तारक नहीं, डुबाने वाले हैं। ये वहन करने वाले नहीं, किन्तु कुल-बह्नि हैं। अर्थात कुल को भस्म करने वाले हैं। ये लोक रूपी 'ई' गृह तथा परलोक रूपी 'ऊ' गृह, दोनों के जारने-मारने वाले हैं। मानव-समानता के बोध और आत्मज्ञान से विमुख कर ऊंच-नीच भेदजनक भावनाओं तथा कर्मकांड की खाई में ढकेल देना लोक-परलोक दोनों बिगाड़ देना है। मानवता तथा समानता की बुद्धि नष्ट होने से मानवता का व्यवहार मिट जाता है। और आत्मज्ञान से विमुख हो जाने पर परमार्थ से हाथ धो देना होता है। इसलिए मानो लोक-परलोक दोनों बिगड़ गये। इसलिए इस मलिन पौरोहित्य ने व्यवहार-परमार्थ दोनों बिगाड़ दिया।

"बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहि लगावै।" ये लोग मोह-माया में आकंठ डूबे हुए घर-गृहस्थी में बैठे हैं, परन्तु कहलाना चाहते हैं साधु, उत्तम एवं जगत-पूज्य! यहां तक कि विरक्त संतों से भी अपना नमस्कार और आदर चाहते हैं। इनके भीतर में भेदभावना है कि हम अन्य लोगों से जन्मजात श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार इनके सब व्यवहार प्रायः मनमुखी अर्थात मनमानी हैं।

"ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे॥" इस प्रकार उलटा-पलटा व्यवहार रखने वाले विप्र लोग भू-सुर अर्थात संसार के देवता कहलाना चाहते हैं। इन्हें ऊंचे आचरण से कोई प्रयोजन नहीं है। ये तो जन्म से ही देवता हैं, जगत्पूज्य हैं। जैसे ये अपने को बतावें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे ही जनता को चाहिए कि इन्हें ऊंचा आसन दे, जल दे, भोजन दे।

आचरण की परवाह किये बिना केवल जन्म से ही अपनी वरिष्ठता मानने से इनकी दशा यह हुई कि "बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊंच नीच कहु काहि जोहारा॥" ये अपने तथाकथित वर्ण और जाति के घमंड में डूब गये। घमंड में पड़कर ये दिनोदिन गिरते गये। जैसा घिनौना कर्म कोई न करे वैसा ब्राह्मण नामधारी करते गये। दुख यह है कि इन्होंने अपने आप को सम्हाला नहीं। "बूड़ि गये नहिं आपु सम्हारा।" इस वाक्य से जाहिर होता है कि सद्गुरु कबीर के मन में ब्राह्मणों के पतन पर दुख है। वे इनकी दयनीय दशा देखकर

करुणाविगलित हैं।

ब्राह्मण नामधारी संतों के मिलने पर भी प्रायः उनका नमस्कार नहीं करते। कहते हैं कि भई! हम तो पहले जान लेते हैं कि ये साधु ऊंच जाति के हैं कि नीच जाति के, तब यदि ऊंच जाति—ब्राह्मण हैं तो नमस्कार करते हैं, अन्यथा नहीं करते। इस प्रकार ऊंच-नीच जाति की भ्रांति में ये अपने आप को खो रहे हैं।

"ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥ एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा॥ एक चाक सब चित्र बनाई। नाद-बिन्द के मध्य समाई। व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती।" वस्तुतः ऊंच-नीच की भाषा बीच की है, कल्पित है, मान्यताकृत है। मनुष्य की रचना तो एक ही पवन-पानी से हुई है। अर्थात एक ही प्रकार के श्वास और रज-वीर्य से सबके शरीर का निर्माण हुआ है। जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर एक ही चाक पर अनेक घड़े बनाता है, वैसे माता-पिता के रज-वीर्य द्वारा माता के एक ही प्रकार के गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। वासना से ही सारे शरीरों की रचना होती है। गंदे रज-वीर्य से ही सबके शरीर बनते हैं। इसके साथ-साथ एक ही प्रकार शुद्ध ज्ञान-ज्योति सब में फैली हुई है। ब्राह्मण-शूद्र नाम रखने से क्या वह भौतिक हो जायेगी! या भौतिक शरीर के नाम अलग रखने से सबके शरीर में विद्यमान चेतन क्या अलग-अलग लक्षणों वाला हो जायेगा।

सद्गुरु कबीर जन्मजात ऊंच-नीच मानने वालों को बताना चाहते हैं कि सभी मनुष्यों का जन्म एक ही प्रकार से होता है। एक ही प्रकार सबके शरीर गंदे होते हैं और सबके शरीर में एक ही प्रकार के शुद्ध चेतन निवास करते हैं, फिर जन्म से इनमें छोटा-बड़ा कौन है? "काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा!"

सद्गुरु ब्राह्मणों को जोर से फटकारते हुए कहते हैं "राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै॥" ये करनी करते हैं राक्षस की और कहलाते हैं देव, बात बहुत बढ़-बढ़कर करते हैं, परन्तु गोपाल के उपदेश इन्हें अच्छे नहीं लगते। कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण लोग धर्म के नाम पर जीववध बहुत करते और करवाते थे। इसके साथ-साथ इनकी जाति-पांति की भेद-भावना-जनक बातें महान क्रूरता की थी। किसी की हत्या कर देना महा पाप है और इससे भी बड़ा पाप है किसी के मन में यह बात बैठा देना कि तुम जन्म से ही नीच हो। वस्तुतः यह महाराक्षसी कर्म है और यह कर्म करके देव कहलाना कितना आत्मघात और परघात है! देव तो वह है जो

मानव मात्र की शुद्ध मानवता को जगाये और उसको बताये कि तुम पवित्र मानव हो, मानव में कोई मूलतः ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र, छूत-अछूत नहीं है, किन्तु आचार और रहनी से ही ऊंच-नीच होता है, जन्म से सब मानव बराबर हैं।

ये अपनी उच्च परंपरा की बात तो बहुत बढ़-बढ़ कर करते हैं, परन्तु इन्हें श्री कृष्ण के, श्री राम के, या शास्त्रों के सत्योपदेश अच्छे नहीं लगते, क्योंकि उनके अनुसार ये अपना आचरण नहीं बनाते।

सद्गुरु ब्राह्मणों तथा मानव मात्र का ध्यान मानव के मूल चेतन स्वरूप पर खींचते हैं "हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई॥ स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा॥ हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा॥" अर्थात जब जीव शरीर छोड़कर उससे अलग होता है तब कोई उसकी जाति भला, क्या कहेगा! उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा, हिन्दू कहेगा कि तुरुक, बूढ़ा कहेगा कि बालक, स्त्री कहेगा कि पुरुष—इस पर विचार करो!

सद्गुरु कबीर की कितनी पैनी दृष्टि है! उनकी मर्म-भेदी बातें मन को मथ कर रख देती हैं। वे एक साथ ढेर सारे प्रश्न रख देते हैं और कहते हैं कि इस पर विचार करो। वे कहना चाहते हैं, कि श्वेत, लाल, पीले, काले, अवर्ण, सवर्ण, तेज, मंद, हिन्दू, तुरुक, बूढ़े, बालक, स्त्री और पुरुष—सबके शरीर में चेतन हंस एक समान हैं। इस मूल बात को समझे बिना मानव मात्र में समता नहीं आ सकती, और समता आये बिना आपसी मारामारी दूर नहीं हो सकती।

अपने मिथ्या अहंकार में पड़कर उपर्युक्त ज्वलंत सत्य को न समझना भयंकर प्रमाद है और उसी का फल है मानवीय वैमनस्य!

"कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना॥" सद्गुरु कहते हैं कि ये सत्य की बातें किससे कहीं जायें। मिथ्या वर्ण और जाति के प्रमाद में डूबे हुए लोग कहा नहीं मानते! मैं समझता हूं कि यही इनमें पै है, दोष है, गलती है।

जिनकी पैदाइश का कोई पता नहीं कि किस माता-पिता से उनका शरीर जन्मा, पाले गये नीरू और नीमा नाम गरीब जुलाहे की झुग्गी-झोपड़ी में, समाज से जिन्हें कोई सुविधा नहीं प्राप्त थी, उन कबीर में हीन भावना छू नहीं गयी थी। उनकी निर्भयता, उनकी सत्यदृष्टि, उनकी पैनी परख, उनकी सत्य कहने की निराली रीति कितनी अद्भुत है! वे मूलतः महान तेजवान तो थे ही,

परिस्थिति ने भी उन्हें प्रचंड आग का गोला बना दिया था। जो सारे कूड़ा-कबाड़ को जला देने के लिए उद्दत था।

उन्होंने कोमलता से, गुदगुदा कर तथा डांट-फटकार कर जो कुछ कहा आज भी पूर्ण सामयिक है और आगे भी सदैव रहेगा। उन्होंने अपने समय में अनुभव किया कि लोग मेरी बातों को नहीं मान रहे हैं "कहिये काहि कहा नहिं माना।" परन्तु दिन जितने बीतते गये उनकी बातें सत्य सिद्ध होती गयीं। लोग उत्तरोत्तर उनकी बातों को मानते गये। आज बीसवीं सदी में सब मानने के लिए विवश हैं। अत्यंत दूरदर्शी सद्गुरु कबीर ने जो मानवता के समान अधिकार तथा छुआछूत-निवारण की बातें आज से पांच सौ वर्ष के पूर्व कही थीं उनके अनुकूल आज भारत सरकार ने कानून बना दिया है। आज सभी मानव का सब क्षेत्र में समान अधिकार है और कोई किसी को अछूत नहीं कह सकता। यदि कोई किसी को अछूत कहे तो वह दंड का पात्र हो सकता है। यह कबीर विचारों की सच्ची विजय है।

सद्गुरु इस प्रकरण के अन्त में एक मार्मिक साखी कहते हैं—"बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर। जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और॥" जो लोग मनुष्य-मनुष्य के बीच में भेदभाव की दीवार खड़ी करते हैं, मूलतः किसी को बड़ा तथा किसी को छोटा मानते हैं, मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से उन्हें बेवकूफ बनाकर अपना स्वार्थ साधते हैं और इन सब के लिए अच्छा-बुरा सब करते हैं; ऐसे लोग निश्चित ही अपने मनुष्यत्व एवं विवेक से हटकर भूल की धारा में बहे हुए हैं। सद्गुरु कहते हैं ऐसे बहने वालों को निकालना आवश्यक है। यदि ये नहीं निकलना चाहते तो भी दो धक्का देकर इन्हें डूबने से बचाने का प्रयास करना विवेकी का कर्तव्य है।

"जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और" इसका कोई यह अर्थ न समझ ले कि कबीर साहेब उन लोगों को धक्का देकर डुबो देना चाहते हैं जो कहा नहीं मानते। संत ऐसा कैसे कर सकते हैं! वस्तुतः जब कोई व्यक्ति डूब रहा हो तो उसे पानी का धक्का देकर डूबने से बचाया जाता है। डूबने वाले को कोई पकड़कर बचाना चाहे तो वह स्वयं भी उसी के साथ डूब जायेगा। परन्तु उसे पानी का धक्का देकर बचाया जा सकता है।

धका का अर्थ बंदरगाह या किनारा भी होता है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है—"परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर।" यहां धका किनारा है।

कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने हजारों वर्ष पूर्व से ही एक उच्च संस्कृति और सभ्यता दी, एक विशाल दर्शन तथा विपुल साहित्य दिया, नीति

और सदाचार की शिक्षाएं दीं; किन्तु कबीर साहेब ने इन पक्षों को नजरअंदाज करके केवल उनके गलत पक्ष का इस प्रकरण में वर्णन किया।

उक्त बातों के समाधान में कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मणों की अच्छाइयों से परिचित थे। उन्होंने पंडित नाम से उनका बड़ा आदर किया है। यह भी सच है कि बीच-बीच में पंडितों को संबोधित कर उन्हें उनकी गलतियों पर फटकारा भी है; परन्तु उनकी विशेषता को गहराई से लिया भी है। वे जगह-जगह बीजक में कहते हैं—

कहहिं कबीर हम जात पुकारा। पंडित होय सो लेय विचारा॥
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी॥
पंडित सो बोलिये हितकारी, मूरख सो रहिये झखमारी॥

आज भी ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज में विनम्र, भक्त, संतसेवी, पाखंड-विरोधी, मानवमात्र में समता भाव रखने वाले, छुआछूत न मानने वाले, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तर्क-बुद्धि रखने वाले, विवेकी, विचारक और सदाचारी हैं। इतिहास उठाकर देखा जाये तो पुराकाल से आज तक हर राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति में ब्राह्मण-समाज के सदस्य पीछे नहीं रहे हैं। यह सब होते हुए भी समाज का नेतृत्व इन्हीं के हाथों में होने से इन्होंने गलतियां खूब की हैं। इसलिए उनके परिचय एवं निराकरण के लिए अप्रतिम संत कबीर देव ने निर्भीकतापूर्वक उनकी बखिया उधेड़ी है। दयालु डॉक्टर फोड़े का गहरा ऑपेशन कर तथा उसे दबाकर सारा मवाद निकाल देता है। कबीर साहेब वैसे ही आध्यात्मिक डॉक्टर हैं।

कबीर साहेब ने इस प्रकरण में जो कुछ कहा है, आप केवल मूल को ही ध्यान से पढ़ जाइये तो देखेंगे कि वह कितना मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण है। जिसमें विचार नहीं है, ऐसा पुरोहित-वर्ग इसी तरह आज तक करता चला आया है। कबीर साहेब ने पुरोहित-ब्राह्मणों पर करुणा-विगलित होकर यह सब कहा है। उन्होंने अपने कथन के दौरान में ब्राह्मणों के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा है—"बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा॥" इस वाक्य को ध्यान से पढ़िये तो लगता है कि उनके मन में कितना दर्द है इनके सुधार के लिए।

सद्गुरु कबीर ने ये पंक्तियां जब कहीं हैं, कई अर्थों में उस समय की स्थिति आज से काफी भिन्न थी। आज ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों के बच्चे न पुरोहिताई-विद्या पढ़ना चाहते हैं और न उसे करना चाहते हैं। वे स्वयं पुरोहिताई की खिल्ली उड़ाते हैं। मानो सारा संसार ही कबीर साहेब का अनुयायी होता जा रहा है। अब पुरोहितों के भी बच्चे खेती, व्यवसाय एवं

नौकरी का काम करना चाहते हैं, परन्तु पुरोहिताई कतई नहीं। पुरोहित वर्ग आज चिन्तित है कि इसकी परम्परा ही लुप्त हो जायेगी। पहले-जैसी छुआछूत की भावना भी अब नहीं रहीं। सद्गुरु कबीर जो चाहते थे, उनमें बहुत-सारी बातें अब होती जा रही हैं। पुरोहित-ब्राह्मणों की संतानें अब स्वयं कबीर के विचारों का प्रेमी तथा अनुयायी होती जा रही हैं।

फल छन्द

हे धर्म के जननी जनक,
हे सत्य के गुरुदेव हो।
हे परख के प्रकाश साहेब,
जानते सब भेव हो॥
हे सत्य प्रेम-प्रतीति के,
आधार मन्मत छेव हो॥
हे सन्त-गुरु गुरु-परख रूपी,
परख रूप समेव हो॥

चौपाई

सदाचरण युत पारख पावै।
सहित विवेक असत बिलगावै॥
तजि प्रमाद सत्संग सुभावै।
जन्म मरण बिच पुनि नहिं आवै॥

कहरा

हेतु छन्द

ज्यों मीन जल से हीन तलफत,
प्रिय-वियोग विमोह से।
हा! दौड़ि लिपटत प्राणप्रिय,
पाँखी पतंग बिछोह से॥
चित रचत कहरा कहर बाढ़त,
ज्वाल विपदा कोह से।
इस हेतु कहरा शब्द बरसे,
शान्त अन्तः सोह से॥

दोहा

तन मन द्रष्टा स्वच्छ सत, प्रति घट जीवन रूप।
दृश्य सकल निस्सार लखि, लक्ष्यक पद लहि भूप॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

पंचम प्रकरण : कहरा

सहज-ध्यान तथा रामरस में निमग्नता

कहरा-1

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो॥ 1॥
मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो॥ 2॥
जस दुख देखि रहहु यह औसर, अस सुख होइहैं पाये हो॥ 3॥
जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो॥ 4॥
मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो॥ 5॥
मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो॥ 6॥
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो॥ 7॥
भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो॥ 8॥
जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो॥ 9॥
नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो॥10॥
बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो॥11॥
जबहीं सावत आनि पहुँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो॥12॥
ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहू के न छुटिहैं हो॥13॥
एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो॥14॥
अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो॥15॥
लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो॥16॥
जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो॥17॥
जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो॥18॥
जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो॥19॥
पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो॥20॥

उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो॥21॥
तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो॥22॥
ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो॥23॥
जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कब होई हो॥24॥
सासु ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो॥25॥
गुरु भौ ढील गोनी भई लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो॥26॥
ताजी तुर्की कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो॥27॥
ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोई नाचे हो॥28॥
जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो॥29॥
नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो॥30॥
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो॥31॥

शब्दार्थ—सहज ध्यान=निजस्वरूप चेतन में स्थिति। मेली सृष्टि=सृष्टि में मिला हुआ, जगत में डूबा हुआ। चरा=विचरा हुआ, चंचल। चित्त=मन। दृष्टि=ध्येय, लक्ष्य। लौलाई=तन्मयता। खुटकार=खटका, चिंता, लगन। बेगि=शीघ्र। निवारहु=निवारना, रोकना, हटाना, बचाना, दूर करना। कोहू=कोह, क्रोध। मुक्ति की डोरि=साधना-अभ्यास। गाढ़ि=जोर से। रोहू=एक प्रकार की मछली, मन। खिजुवा=खिजाने वाले, चिढ़ाने वाले, निंदक। खीजि=खीजकर, उलझकर। मानू=माने हुए, माननीय, श्रद्धेय। मीत=मित्र। कमऊँ=कबहूं, कभी भी। गाँठि=प्रेम की गांठ। भोग=प्रारब्ध भोग शरीर-यात्रा। भुक्ति=भोजन, देहव्यवहार, अधिकार। युक्ति=मन रोकने का तरीका। मतवलिया=मंतव्य, मन का निश्चय। ठाकुर=इन्द्रियों का स्वामी मन। दारुण=कठोर, भयंकर, दुखदायी। डंड=दंड, सजा। मतवाली=उन्मत्तता। सावत=शामत, विपत्ति, कालबली। साँटि=छड़ी, दण्ड, कोड़ा। निहुरि=झुककर। अनचीन्हे=अपरिचित। केवट=तारक, सद्गुरु। गर्भ=गर्व, अहंकार। समर=फल, मेवा, सत्कर्म का सुफल। सम युक्ति=साधु-विचार, उत्तम उपाय। अगमन=पहले से। मच्छ=मछली, मन, काम-क्रोधादि। डेहरि=बखारी, देह। धरन लागि=पकड़ने लगे। सोहरि=सोहर, नाव का फर्श, पाल खींचने की रस्सी। पेलना=नौका खेने के लिए लकड़ी का हत्था, विवेक। अछत=होते हुए। उथले=जहां पानी कम हो। हाथहु की=नर-जन्म। तर कै घाम=मन का उद्वेग। ऊपर कै भुँभुरी=प्राणी-पदार्थ तथा देहजनित पीड़ा। छाँह=छाया, शीतलता, शांति। पसीझेहु=पसीजेहु, गरमी से पीड़ित हुए, दुखी हुए। सीझेहु=कष्ट पाये। छतुरिया=छाता, विवेक की छाया। खेड़=खेड़ा,

गांव, खेट, आखेट, नीच, अधम, गलत कर्म, खेल। सासु=संशय। ननद=कुमति। उलाटन=उलट-पलट कर कष्ट देना। गोई=छिपाना। गुरु=गुड़। गोनी=बोरा, शरीर। लचपच=ढीला-ढाला। ताजी=अरबी घोड़ा। तुर्की=तुर्किस्तानी घोड़ा। ताल=हथेली का स्वर, मंजीरा। झाँझ=कांसे के दो तश्तरी-जैसे टुकड़ों से बना मंजीरे-जैसे बाजा। कहरा=कहार, एक हिन्दू जाति जो डोली ढोने, पानी भरने, बरतन मांजने, चबैना भूनने आदि का काम करती है, तात्पर्य में विरही जीव। दुलहा=उपास्य। दुलहिन=उपासक। राँचे=रांचना, प्रेम करना। नौका=मानव शरीर।

भावार्थ—हे साधको! मैं तुम्हें बारम्बार निर्देश करता हूं कि तुम सहज निज चेतनस्वरूप के ध्यान में सदैव निमग्न रहो और उसके सहायक सद्गुरु के निर्णय वचनों में लीन रहो॥ 1॥ जगत में डूबे हुए इस चंचल चित्त को अपने वश में रखो, और सदैव अपने लक्ष्य में तन्मय रहो॥ 2॥ साधना के इस आरंभिक काल में जैसे तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, स्वरूपस्थिति एवं सहज-ध्यान की अवस्था प्राप्त होने पर वैसे तुम्हें सच्चे सुख का अनुभव होगा॥ 3॥ यदि साधना में तुम्हें शीघ्र चिंता नहीं लग रही है, तो यह तुम्हारे मलिन हृदय का लक्षण है, अतएव तुम अपने हृदय के काम-क्रोधादि मलों को दूर कर दो॥ 4॥ ध्यान रहे! मुक्ति की डोरी जोर से मत खींचो। अर्थात साधना-अभ्यास उतावलेपन से न कर उसे धीरे-धीरे चलने दो, तभी बड़ी मछली फंसेगी। अर्थात यह मन वश में होगा॥ ।5॥ देखो, मनुवा से कह दो कि वह अपने आप को मारकर रखे। यदि कोई तुम्हारी निंदा एवं उपहास कर तुम्हें खिजाना चाहे तो उससे उलझकर न बोलो, किन्तु उससे भी शांत होकर ही बोलो॥ 6॥ मान्यवर मित्र, सद्गुरु एवं संतों के प्रति लगी हुई मित्रता कभी नहीं छोड़ना और उनमें लगी प्रेम की गांठ कभी नहीं खोलना॥ 7॥ शरीर-यात्रा के सुख-दुखों को निर्विकार भाव से सहन करो और व्यवहार में मिले हुए खान-पान, वस्त्र, मकान, प्राणी-पदार्थ, अधिकार आदि के मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में कभी मत भूलो। मानव शरीर का फल है युक्तिपूर्वक योग-साधना। अतएव भोग से ऊपर उठकर योग द्वारा जीवन की ऊंचाई पर पहुंचो॥ 8॥ यदि इस प्रकार का मंतव्य रखते हो तो इसी ध्येय में अपने चित्त को मजबूती से जोड़ दो॥ 9॥ अन्यथा इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े भयंकर दुखदायी हैं, ये तुम्हारे साथ बुरे आचरण करेंगे॥ 10॥ इन बुरे आचरणों के फल में तुम्हें सब बांधेंगे, मारेंगे और दण्ड लेंगे, तब जाकर तुम्हारा उन्माद ठंडा होगा॥ 11॥

जब कालबली आ पहुंचेगा, तब उसके डण्डे तुम्हारी पीठ पर खूब तड़ातड़ पड़ेंगे॥ 12॥ तुम्हारे सब कुटुम्बी खड़े होकर यह तमाशा देखेंगे, परन्तु उस समय किसी के कहने से तुम मौत के हाथ से छूट नहीं सकोगे॥ 13॥ एक तरफ तो तुम्हारे स्वजन एवं मित्र विनयावनत हो कालबली के पांवों पड़कर तुम्हें छोड़ देने की प्रार्थना करेंगे, दूसरी तरफ वह इतना कठोर है कि किसी की विनती नहीं मानता॥ 14॥ जीवनभर तो तुम सत्य से अपरिचित रहे। तुमने कभी अपनी आत्मा तथा उसके बन्धन वासनादि का परिचय प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की। अब मौत के समय में तुम इन महत्त्वपूर्ण विषयों को कैसे समझ सकते हो और कैसे अपना उद्धार कर सकते हो!॥ 15॥ अन्त में तो यमराज बुला लेता है, वह किसी से बात भी नहीं पूछता है और निश्शील होकर कर्मों के फल देता है। तुम जीवनभर भवतारक सद्गुरु एवं संतों से अहंकार भरी बातें करते रहे॥ 16॥ जिसकी गठरी में उत्तम कर्मों के फल नहीं हैं वह निर्धन बना भूखा-प्यासा भटकता रहेगा॥ 17॥ परन्तु जिन्होंने पहले से ही अपने साधु-विचार रखे थे वे काम-क्रोधादि को मारकर अपनी हृदय-बखारी में सत्कर्म के धन भर लिये॥ 18॥ जिसके हाथ-पांव कुछ भी न हो वह नौका के पाल की रस्सी पकड़कर उसे खेने लगे तो आश्चर्य होगा। साधक की दशा यही है। वह बाहरी चीजों से अकिंचन एवं असहाय दिखते हुए भी जीवन-नौका के पाल की रस्सी अपने हाथों में ले लेता है और उसे घाट पर लगाकर महान हो जाता है॥ 19॥ हे पगले! जीवन-नौका खेने के लिए विवेक-पेलना एवं हत्था पास में होते हुए भी क्यों किनारे-किनारे टटोल रहा है! पेलने से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ा ले चल! अर्थात विवेक से सारी वासनाएं हटाते हुए अपना जीवन कल्याण की तरफ गतिशील करता चल॥ 20॥ यदि पूरा पार न जा सके तो उथले पानी में ही रह, गहरे में न जा। हाथ का भी मत खो। जिन्दगी को डुबा मत। अर्थात यदि मुक्ति न पा सके तो दुष्कर्मों में न जाकर सत्कर्मों में ही बना रह॥ 21॥

हे मनुष्य! भीतर की मनस्तापरूपी धूप और बाहर के प्राणी, पदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव की जलती बालुका में तुम सदैव तपते रहे। तुम्हें जीवन में बाहर-भीतर कहीं भी शीतलता एवं शांतिरूपी छाया नहीं मिली॥ 22॥ इस प्रकार संसार की दुखरूपी गरमी में तुम सदैव गलते और जलते रहे। संसार के ऐसे तापों को जानकर भी उससे बचने के लिए तुमने विवेक की छत क्यों नहीं बना ली!॥ 23॥ खैर, आज तक भूल-चूक में तुमने जो कुछ अज्ञानजनित खोटे कर्मों के खेल किये सो किये, परन्तु अब पुनः वही दुखद

खेल कैसे करोगे! अतः अब ऐसे दुखद कर्मों से बाज आओ॥ 24॥ तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी बहू को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। और तुम ऐसे निघरघट हो कि अपनी जगह छोड़कर टस-से-मस नहीं हो रहे हो। जहां तुम्हारी मनोव्याधि की चिकित्सा हो सके उन संतों के सामने जाने में लज्जा करते हो, और उनसे मुख छिपाते हो॥ 25॥

ऐसा करते-चलते तुम बूढ़े होकर उसी प्रकार ढीले-ढाले हो गये जिस प्रकार बरसात में बोरी में भरा हुआ गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच, गीली एवं ढीली-ढाली हो जाती है। हे मित्रो! तुमने मेरी दी हुई चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया॥ 26॥ तुमने तेज-तर्रार ताजी-तुर्की घोड़े को कभी नहीं साधा, प्रत्युत जीवनभर काठ की घोड़ी पर चढ़े। अर्थात विवेक-वैराग्य का आश्रय न लेकर देहाभिमान में डूबे रहे, कुछ धर्म के क्षेत्र में बढ़े भी तो देहाभिमानजनित ही रागात्मिका भक्ति की, जिससे अपने आप को पत्नी मानने का भ्रम करके बाहर पति को खोजते रहे॥ 27॥ कहारों के विवाह में ताल, झांझ, हुडुक्क आदि अच्छी तरह बजाते हुए बरात आती है और सभी कहार मिलकर नाचते हैं और जिस राग-रंग से दूल्हा विवाह करने आता है, उसी राग-रंग से प्रस्तुत होने के लिए दुल्हन भी रुचि रखती है। अर्थात रागात्मिका भक्ति करने वाले विरही जीव अपने आप को पत्नी तथा कल्पित देवादि को पति मानकर उससे अपना विवाह सम्बन्ध जोड़ते हैं और बजा, गा तथा नाच कर कल्पित दूल्हे को रिझाने का उपक्रम करते हैं। जिस भाव का देवता-दूल्हा होता है, उस भाव की भक्त-दुल्हन होती है। यह सब काठ के घोड़े पर चढ़कर पार होने का दुस्साहस है॥ 28-29॥ मानव-शरीररूपी नौका के रहते हुए भी तुम उसे खेने का तरीका नहीं जानते हो तो भवसागर कैसे पार होओगे!॥ 30॥ कबीर साहेब अपने आप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थितिरूपी राम-रस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है॥ 31॥

व्याख्या—उत्तर प्रदेश में कहार उस जाति को कहते हैं जो डोली ढोती है, लोगों के घरों में पानी भरती है, बरतन मांजती है एवं भड़भूज का काम करती है। इसका अपना जातीय संगठन होता है। इसके अन्दर में हुई चारित्रिक गलतियों का यह स्वयं, पंचायत कर, सुधार करती है तथा सम्बन्धित व्यक्ति को दण्डित करती है। इसके किसी भी उत्सव में इसका जातीय नाच होता है जिसमें इसके ही सदस्य होते हैं। इसके नाच तथा गीत का नाम कहरवा होता है। इसके नाच-गाने में दो बाजे बजते हैं हुडुका और

जोड़ी। हुडुका को ही हुडुक्क भी कहते हैं जो आकार में डमरू जैसा होता है, परन्तु डमरू से बड़ा होता है। जोड़ी मंजीरा के आकार की होती है, परन्तु मंजीरा से बड़ी होती है। कहरवा नाच-गान हुडुका-जोड़ी पर ही हो सकते हैं। ढोल, तबले, हारमोनियम, सारंगी आदि पर नहीं। यदि कोई कहार ढोल-तबले आदि पर नाच-गा दे तो उसे कहारों की पंचायत द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता है।[1] सद्गुरु कबीर ने इन्हीं कहारों की ध्वनि एवं लोक-गीत में यहां बारह पद बनाकर कहरा नाम का प्रकरण रखा है, जिसका पहला कहरा प्रस्तुत पद है जो साधना की दृष्टि से बहुत मार्मिक है।

सहज ध्यान

इस कहरा में साधनात्मक विषय है। कहरा की पहली पंक्ति ही है "सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।" इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो सद्गुरु का आदेश है कि सहज ध्यान में रहो और दूसरी बात है कि गुरु के वचन में लीन रहो। अंततः दोनों का भाव एक ही है। गुरु के वचनों में लीन रहने का मतलब ही यही है कि उनके आदेशों का पालन किया जाये, और उनका मुख्य आदेश है कि मनुष्य सहज ध्यान में रहे। यहां सहज ध्यान वही है जिसे सद्गुरु ने अपने प्रसिद्ध शब्द "संतो सहज समाधि भली" में कहा है। सांख्यदर्शन में कहा गया है कि मन का निर्विषय हो जाना ही ध्यान है।[2] जब तक संकल्प रहते हैं तब तक मन में संसार रहता है और जब सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं तब मन का संसार समाप्त हो जाता है। तब शेष रह जाता है केवल शुद्ध चेतन। वही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव विषय-वासनाओं को छोड़कर अपनी चेतना में रहना सहज ध्यान में रहना है। परन्तु हर समय कोई संकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प बैठा नहीं रह सकता। यदि केवल संकल्पहीन-काल ही सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि है तो वह जीवन में थोड़े-थोड़े समय रह सकता है, अतएव वह बहुत अल्पकालिक ही होगा। इसलिए व्यवहारकाल में भी जब साधक मन का सदैव पारखी बना रहता है, वह सब समय सभी संकल्पों का द्रष्टा रहता है, वह मलिन संकल्पों में तो बहता ही नहीं है, शुद्ध संकल्पों का भी साक्षी बनकर सदैव स्वरूपज्ञान में एवं निज चेतन में रमता है तो वह मानो सब समय सहज-समाधि में ही रहता है।

---

1. आज के वैज्ञानिक युग में यह प्रतिबन्ध ढीला हो गया है ।
2. ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ सांख्यदर्शन 6/25 ॥

एक सहज-ध्यान है, दूसरा अ-सहज-ध्यान है। जैसे एक सहज सौन्दर्य है तथा दूसरा अ-सहज सौन्दर्य। तेल, पाउडर तथा अनेक शृंगार-प्रसाधन से बनाया गया सौन्दर्य अ-सहज है, बनावटी है, परन्तु पानी-साबुन से शरीर तथा वस्त्र को स्वच्छ करने के बाद जो शरीर का सौन्दर्य है वह स्वाभाविक है। स्वाभाविक सौन्दर्य ही असली सौन्दर्य है। नकली सौन्दर्य तो केवल आरोपित है। इसी प्रकार अपने मन में किसी महापुरुष का चित्र या नाद, बिन्दु, ज्योति आदि आरोपित कर उनमें मन लगाना अ-सहज-समाधि है, बनावटी ध्यान है। यह ठीक है कि पहले इसकी आवश्यकता है; परन्तु है यह नकली ही। किन्तु जब मन के सारे आलंबन छोड़ दिये जाते हैं और मन का भी साक्षी बनकर मात्र अपने चेतनस्वरूप में ही स्थिति होती है, तब यह सहज-समाधि होती है। व्यक्ति का सहज-स्वरूप, सत्य स्वरूप असली स्वरूप चेतन है और उसमें स्थित रहना सहज-समाधि है। यही सहज-ध्यान है। जो सदैव सहज-ध्यान में है वह सदैव गुरु के वचनों में समाया है। यही तो गुरु का मुख्य आदेश है।

दृश्यों से उदासीनता तथा ध्येय में लीनता

"मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" मनुष्य का चित्त सदैव सृष्टि-प्रपंच में मिला तथा चरा एवं विचरा हुआ रहता है। सद्गुरु कहते हैं कि उसे स्थिर करके रखो और अपनी दृष्टि में, ध्येय एवं लक्ष्य में लवलीन रहो। इस पंक्ति में पहली बात है कि चित्त सृष्टि में मिला हुआ है। हर आदमी का मन संसार की बातों को ही हर समय सोचता रहता है। इस कूड़े-कबाड़ संसार में ही मन हर समय लीन रहता है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी बाहर पांचों विषयों—रूप, गंध, शब्द, स्वाद तथा स्पर्श की तरफ खुली रहती हैं। अतः इन्द्रियां सदैव विषयों को ग्रहण करती हैं। इसलिए मन सदैव विषय-प्रपंचों में एवं संसार-सृष्टि में ही मिला रहता है, और उसी में चरा रहता है। चरा का अर्थ है विचरा हुआ एवं गतिशील। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! विषयलीन चंचल चित्त को अपने वश में रखो। दूसरी बात है "रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" यहां दृष्टि का अर्थ है लक्ष्य एवं उद्देश्य। साधक का लक्ष्य है सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि। अतएव उसे चाहिए कि वह उसी में सदैव लवलीन रहे। जो अपने लक्ष्य में लवलीन रहता है वही अपने लक्ष्य को पाता है। आलसी आदमी निकम्मा हो जाता है। जो श्रमशील होता है वह स्फूर्त होता है। परन्तु श्रम उद्देश्यपूर्वक होने से उसका फल किसी दिशा में सफलता होता है। जैसे कोई रास्ते में

दिनभर चलता रहे, परन्तु उसका चलना निरुद्देश्य हो, एक घंटा आगे चले फिर एक घंटा पीछे चले और इसी प्रकार दिनभर चलता रहे तो वह कहीं भी नहीं पहुंचेगा, परन्तु यदि वह अमुक जगह पहुंचने का उद्देश्य मन में रखकर उधर चलता है तो निश्चित है वह उस जगह पहुंचता है। जिसकी लौ होती है, लगन होती है एवं उत्साहपूर्वक तत्परता होती है वह अपने उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करता है। साधक के मन में स्वरूपस्थिति की प्रगाढ़ लगन होनी चाहिए। अपने लक्ष्य में लवलीन साधक लक्ष्य को जल्दी पाता है।

श्रम से सफलता मिलती है

"जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहैं पाये हो।" इस साधना के समय में जैसे तुम्हें दुख लगता है, सिद्धि के समय में वैसे तुम्हें सुख मिलेगा। यह हर साधना की बात है। विद्या पढ़ने में, खेती का काम करने में, व्यापार में, रास्ता चलने में या किसी भी दिशा में मेहनत करने में मनुष्य को कष्ट लगता है, परन्तु परिश्रम कर लेने के बाद जब उसके फल मिलते हैं तब मन को कितनी प्रसन्नता मिलती है, यह सर्वविदित है। श्रम करना मनुष्य को स्वभाव से ही पसंद नहीं है। मन तो यही चाहता है कि बिना कुछ किये-धरे सब कुछ मिल जाये। परन्तु ध्यान रहे! बिना श्रम किये कुछ भी नहीं मिलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हमें तभी सफलता मिल सकती है जब हम श्रमशील हों। भौतिक वस्तुएं तो दूसरे के देने से भी मिल सकती हैं। जैसे हमें कोई भोजन, वस्त्र, आवास, औषध आदि दे दे तो हमारा काम चल सकता है। परन्तु हमारी आध्यात्मिक प्रगति तो तभी होगी जब हम स्वयं उस दिशा में श्रम करें। श्रम को कष्ट मानने वाला आदमी अपने आप का ही शत्रु है फिर समाज को वह क्या दे सकेगा! किसी दिशा के सच्चे साधक को श्रम में ही आनन्द आता है। जिस किसान को खेत गोड़ने, जोतने आदि में आनन्द नहीं आता वह सच्चा किसान नहीं है। जिसे सर्विस या व्यापार में मेहनत करने में आनन्द नहीं आता वह अपने आप में ईमानदार नहीं है। इसी प्रकार यदि साधक को साधना करने में आनन्द नहीं आता, तो वह सच्चा साधक नहीं है। आध्यात्मिक साधना में तो "इसके मनन में नित्य सुख है, इसके ध्यान, आचरण तथा निश्चयता में सुख है, फिर इसमें क्या घाटा है जो इसे छोड़कर दूसरी तरफ ध्यान दे।"[1]

---

1. जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुख ध्येय ।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय॥ मुक्तिद्वार 5/112॥

बच्चों को जब पढ़ाया जाता है तब वे पढ़ना नहीं चाहते। कितने बच्चों को पढ़ने बैठना मानो फांसी में लटकना है। परन्तु वे ही बच्चे माता-पिता के शासन में जब धीरे-धीरे पढ़ लेते हैं तब विद्या के फल का सुख स्वयं जानते हैं। मोक्ष-साधना में स्वाध्याय, सेवा, मनोनिग्रह, त्याग, इन्द्रियों तथा मन की मलिन आदतों से अपने आपको हटाते रहना—इन सब बातों में बड़ा कष्ट लगता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुमने साधना में ये कष्ट सह लिये तो पीछे मन-इन्द्रिय-स्ववशता का अचल सुख मिलेगा। बिना सेवा के मेवा नहीं मिलता। जो बिना कुछ किये सब कुछ पाना चाहता है वह अपराधी है। साधक को चाहिए कि वह साधना के कष्ट को अमृत समझे। वस्तुतः किसी दिशा का सच्चा साधक वह है जो साधना में भी आनन्दित रहता है। सिद्धि एवं फल तो आनन्दप्रद है ही, परन्तु उसके लिए किया जाने वाला श्रम भी आनन्दप्रद लगना चाहिए।

कल्याण-प्राप्ति की तीव्र इच्छा चाहिए

"जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो।" यदि साधना के लिए तुम्हारे मन में शीघ्र चिन्ता नहीं होती है तो इसे तुम अपने मन की मलिनता समझकर हृदय के काम-क्रोधादि मल को दूर कर दो। यदि कल्याण की इच्छा तुम्हारे मन को आंदोलित नहीं करती है तो यह तुम्हारे मन की मलिनता है। कितने साधक ऐसे होते हैं जो खाते, सोते जीवन बिताते जाते हैं, परन्तु उनके मन में कल्याण-साधना करने का उद्रेक ही नहीं होता। जिस किसान के खेत में पानी लगा हो और उसे यह फिक्र ही न हो कि हमें हल-बैल लेकर खेत में जाना चाहिए, वह क्या खेती करेगा! समय आने पर अपना काम-धंधा करने की जिसे चिंता नहीं रहती वह सफल नहीं हो सकता। कितने साधक ऐसे ही होते हैं जिन्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचने की कोई परवाह नहीं है। यह बहुत बुरा लक्षण है। इसके मूल में है विषयासक्ति। जिसके मन में जितनी मलिनता होती है उतनी साधना से लापरवाही होती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारे मन में साधना के लिए जल्दी चिन्ता नहीं होती है तो समझ लो कि तुम्हारा हृदय अशुद्ध है। अतएव "हृदय निवारहु कोहु हो।" 'कोह' का अर्थ है क्रोध। यहां क्रोध का मतलब केवल क्रोध नहीं है, किन्तु काम, क्रोध, लोभादि समस्त मलिनता है। यहां क्रोध का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है, और वह है काम-क्रोधादि सारे मनोविकार। आदमी के मन में जितना विकार होता है वह उतना ही अपनी कल्याण-साधना से लापरवाह होता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की

मलिनताओं को दूर करो। तुम्हारा मन जितना साफ होता जायेगा उतना साधना में तत्पर होता जायेगा।

उतावलेपन का त्याग

"मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो।" साधना जोर से मत करो, तभी मन वश में होगा। कहार लोग जलाशय में जाल डालकर मछली फंसाते हैं। उनके जाल में बड़ी-बड़ी रोहू नाम की मछलियां तभी फंसती हैं जब वे जाल की डोरी धीरे से खींचते हैं। जोर से खींचने पर मछलियां चौंककर भाग जाती हैं। परन्तु धीरे-धीरे खींचने पर वे अचेत रहती हैं, जान भी नहीं पातीं और फंस जाती हैं। मन या मनजनित काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकार मछलियां हैं। ये तभी साधना के जाल में फंसकर साधक के वश में होती हैं जब वह धैर्यपूर्वक लगातार साधना में लगा रहता है। इस पंक्ति में सद्गुरु एक मुख्य बात बताते हैं कि जब तुम साधना में उतावलापन नहीं करोगे तब मन वश में होगा।

ध्यान रहे! साधना तपस्या नहीं है। तपस्या में उत्कर्षता होती है। परन्तु साधना में स्थिरता एवं मंथरगति होती है। तपस्या दिखाऊ होती है, साधना सम होती है। एक तरफ देहाभिमान एवं विषयों में आकंठ डूबे भोगी हैं तो दूसरी तरफ घोर तपस्या में तपते हुए तपस्वी हैं। भोगी-जीवन मोक्ष का रास्ता है ही नहीं, किन्तु घोर तपस्या भी मोक्ष का रास्ता न होकर लोक-रिझावा एवं ऋद्धि-सिद्धि पाने का रास्ता है। यहां ऋद्धि-सिद्धि का अर्थ कोई अनहोनी कल्पित वस्तु या शक्ति की प्राप्ति न समझ लेना चाहिए; किन्तु इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति समाज की नजरों में तपस्वी हो जाता है उसके पीछे जनता लट्टू हो जाती है। उसे धन और सम्मान देने लगती है यही ऋद्धि-सिद्धि पाना है।

साधक का रास्ता भोगी और तपस्वी के बीच का है। भोगी, स्वादा-सक्तिपूर्वक जमकर गला तक खाता है, तपस्वी महीनों उपवास करता है, किन्तु साधक स्वादासक्ति-रहित स्वल्प भोजन लेता है। भोगी राग-रंग में डूबा रहता है, तपस्वी गरमी में पंचाग्नि, ठंडी में जलशयन तथा वर्षा में खुले आकाश में रहता है, किन्तु साधक शरीर-रक्षार्थ वस्त्र, वासन, आवासादि लेता है। भोगी केवल भीड़ चाहता है, तपस्वी केवल वन, किन्तु साधक भीड़ और वन दोनों में संतुलित रहता है। भोगी पैसे का दास होता है, तपस्वी पैसे नहीं छूता, किन्तु साधक प्राप्त पैसे का सही उपयोग करता है। साधक वह है जो भोग और घोर तप, इन दोनों अतियों से दूर मध्य-मार्गी है।

साधना में तेज चलने वाला जल्दी पहुंचता है;[1] यह बात सही होने पर भी, वह तेज चलना काम नहीं करता जो एक किलोमीटर तो दौड़कर चल ले और उसके बाद दिनभर बैठा रहे। इससे तो वह यात्री अच्छा है जो दिनभर धीरे-धीरे चलता है। कोई साधक चार दिन बड़े जोर-शोर से साधना में लग गया, परन्तु उसके बाद ढीलाढाला पड़ा है तो यह उसकी सफलता का साधन नहीं बन सकता। अतएव साधक को चाहिए कि वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक निरन्तर लगा रहे। जो दिनभर चलने वाला है वह दौड़ नहीं पायेगा और जो दौड़ेगा वह कुछ ही समय दौड़ सकता है, दिनभर नहीं। हां, यह बात सच है कि जिसके चलने में गति तीव्र है वह अपनी मंजिल पर शीघ्र पहुंचता है, और जिसकी गति मंद है वह देर में पहुंचता है। परन्तु साधक को यह स्वयं विचार लेना चाहिए कि वह उतनी गति से चले जिस गति से निरन्तर चलता रह सके। किसी भी साधना में निरन्तरता बहुत बड़ी बात है। जो दो-चार दिन बहुत जोर से व्यायाम करता है और उसके बाद महीना भर कुछ नहीं करता, उसका व्यायाम शरीर के लिए कल्याणकर नहीं है। व्यायाम चाहे बहुत थोड़ा-थोड़ा हो, रोज होना चाहिए। साधना में निरन्तरता उन्नति का मूल है और निरन्तर साधना मंथर गति से ही चल सकती है। साधना का अर्थ ही है धीरे-धीरे संतुलन लाना। ठूंसकर खाना सरल है और उपवास कर देना भी सरल है, परन्तु नित्य स्वादासक्ति से रहित होकर स्वल्प भोजन करना कठिन है, क्योंकि यही साधना है। साधना में दिखावा नहीं होता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा मन तुम्हारे वश में तभी होगा जब तुम धैर्यपूर्वक निरन्तर साधना में लगे रहोगे।

अपने मन को मारो, दूसरों से न उलझो

"मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो।" हे साधक! मन को कह दो कि वह अपने आप को मारकर रहे, और खिजाने वाले निंदकों से खीजकर न बोले। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। पहली बात है अपने मन को मानकर रहना तथा दूसरी बात है अपने विरोधियों से न उलझना। ये दोनों बातें साधक के लिए परमोपयोगी हैं ही, मानव मात्र के लिए भी उपयोगी हैं। हर मनुष्य को उसका मन ही परेशान करता है, अन्य कोई परेशान नहीं कर सकता। यदि हमारा मन ठीक है तो हमारी कोई हानि नहीं कर सकता। जो हम मान लेते हैं कि अमुक ने हमें कष्ट दिया, वह हमारे

1. तीव्रसंवेगानामासन्नः । योगदर्शन 1/21 ।

मन की भूल है। हमें चाहिए कि हम केवल अपने मन को मारकर रखें, बस हमें बाहर किसी को नहीं मारना पड़ेगा। यह साधना-क्षेत्र की बात चल रही है, नीति इससे अलग है। वैसे हर क्षेत्र में अपने मन पर विजय तो आवश्यक ही है। सद्गुरु के कहने का लहजा कितना सुन्दर है—"मनुवहि कहहु रहहु मन मारे" मन को कह दो कि वह अपने आप को मारकर रखे। साधक के लिए यही परम अमृत है। जो साधक अपने मन को जितना मारकर रहता है वह उतना ही शांति-लाभ करता है। वस्तुतः इच्छाओं का त्याग करना मन को मारना है। जिनकी सारी इच्छाएं निवृत्त हो गयीं वह मानो अपने मन को मार दिया। इच्छाजित होना मन मृतक होना, जीवत मृतक होना आदि कहलाता है। जिनकी सारी इच्छाएं मरी हुई हैं उन्हें कौन-सी पीड़ा हो सकती है! इच्छाजित अमृत है।

दूसरी बात है "खिजुवा खीजि न बोले हो।" कुछ लोग होते हैं जो साधक को खिजाना चाहते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, उन्हें कष्ट देने का प्रयास करते हैं। परन्तु साधक की इसी में असली कसौटी होती है। उलझकर बोलने वाले से उलझकर न बोला जाये। अगला आदमी चाहे जितना खीजकर बोले, साधक को शांत एवं गंभीर बात ही बोलना चाहिए। यह साधक की बहुत बड़ी कसौटी है। ऐसी बातें लिखते, कथा-प्रवचन करते समय ऐसा मन बना रहना सरल है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आप को संतुलित एवं निर्विकार बनाये रखना बहुत बड़ी बात है, और इसके बिना साधना पूरी भी नहीं होगी। एक बार एक तपस्वी साधक जब स्नान करके गुरु के पास दीक्षा लेने चला था तब एक मेहतर ने उसके शरीर पर धूल उड़ा दिया था और वह उससे जल-भुन उठा था। गुरुजी को यह सब पता लग गया था और उन्होंने साधक के पहुंचने पर उससे कहा था कि बेटा, तुम तपस्वी तो जरूर हो, परन्तु तुम्हारा मन-सांप वैसे ही फुफकार मारता है। वह दुबारा तपस्या में लगा। तपस्या के बाद जब स्नान कर गुरु के पास चला तो मेहतर ने उसके अंग में झाड़ू छुआ दिया। अबकी बार तपस्वी ने कुछ कहा तो नहीं, किन्तु उसका मन क्रुद्ध हो गया था। गुरु ने अबकी बार तपस्वी साधक से कहा था कि बेटा! सांप अभी पूरा मरा नहीं है। तिबारा जब तपस्या के बाद साधक गुरु के पास चला था, तब मेहतर ने उसके ऊपर कचड़े की टोकरी ही उड़ेल दी थी, तो तपस्वी ने मेहतर के पैर पकड़ लिये थे और कहा था आपने तो मेरे उद्धार में गुरु का काम किया है।

ऐसे उदाहरण कहना, लिखना सब सरल है, परन्तु समय पर स्वयं इस

कसौटी पर खरा उतरना बड़ी बात है। आदमी छोटे-से मच्छर के काट लेने पर तिलमिला उठता है और उस पर हाथ चला देता है। किसी की तरफ से निन्दा-अपमान आदि पाकर उससे न खीजना, खीजकर न बोलना बहुत बड़ी बात है। साधक की भलाई तथा ऊंचाई भी इसी में है। संसार के उच्च संतों पर नजर डालिए तो पाइयेगा कि वे सदैव निर्विकार रहे। निन्दकों से खीजकर बोलने की बात दूर स्वयं कबीर साहेब ने ही निन्दकों को आंगन में कुटी छवाकर बसाने की बात की है—"निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय॥" गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा—"इतते ये पाहन हनै, उतते वै फल देत।" एक फकीर को एक व्यक्ति गाली दे रहा था, और फकीर मीठी वाणी में उसे समझा रहे थे। फकीर के एक शिष्य ने कहा—हुजूर, आप क्या कर रहे हैं? यह गाली दे रहा है और आप इससे मीठी बातें कर रहे हैं। एक तीसरे सज्जन ने कहा कि हर वस्तु अपना ही रस टपकाती है। दोनों में से अपना-अपना रस टपक रहा है। सद्गुरु ने एक जगह कहा है—"बिजली परे समुद्र में, कहा सकेगी जारि।" यदि बिजली समुद्र में गिरे तो क्या जलायेगी! जो महापुरुष शीतल हैं उन्हें कोई उद्वेगित नहीं कर सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने निन्दकों से भी खीजकर न बोले।

सद्गुरु-संतों के प्रति सदैव भक्ति रखो

"मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो।" मान्यवर मित्र से मित्रता न छोड़े, उनकी मित्रता की गांठ कभी न खोले। साधक के परम मित्र वे हैं जो उसे कल्याण-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। वे हैं संत और गुरु। संत-गुरु ही साधक के परम मित्र हैं। उनसे यदि साधक का प्रेम घट गया तो इसका अर्थ यह है कि उसके हृदय में संसार के राग-रंग समा गये। मन तो एक है। उसमें सांसारिकता समाएगी तो साधना एवं संत-गुरु के प्रति प्रेम घटेगा और यदि उसमें भक्ति-वैराग्य एवं ज्ञान रहेंगे तो वह संत-गुरु के प्रति श्रद्धावान होगा। पानी को छोड़कर कमल हरा-भरा नहीं रह सकता। इसी प्रकार संत-गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, सेवा, आदर-भाव आदि छोड़कर साधक साधना में नहीं ठहर सकता। जब मन में सांसारिकता आती है तभी संत-गुरु के प्रति रही हुई श्रद्धा टूटती है। कबीर साहेब साधक को सावधान करते हैं कि हे साधक! संत-गुरु परम मित्र हैं। उनसे कभी भी मित्रता नहीं छोड़ना। संसार के कीचड़ से निकालने वाले वे ही हैं। उनका पल्ला छोड़ने

के बाद तुम्हें रसातल जाना पड़ेगा, सावधान!

जीवन-यात्रा अनासक्तिपूर्वक करो

"भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो।" जीवन यात्रा के लिए यहां सब विवश हैं। ज्ञानी को भी खाना, पीना, सांस लेना, उठना, बैठना, सोना, जागना, चलना, फिरना एवं शरीर की आवश्यक नाना क्रियाएं करनी पड़ती हैं। जीवन-यात्रा में नाना अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ मिलते हैं; अधिकार, सम्मान और अपमान मिलते हैं; आदमी इन्हीं में भूलकर राग-द्वेष का शिकार हो जाता है। अनुकूल स्वास्थ्य, अनुकूल सहायक मनुष्य, अनुकूल पदार्थ जो देह-निर्वाह के लिए उपयुक्त हैं, अनुकूल भूमिका, आश्रम, सम्मान, फूलमालाएं, आरती, वन्दना, और इसके विपरीत निन्दा, प्रतिकूलता, गाली-गुप्ता यह सब जीवन-यात्रा में मिलते हैं। जो सावधान नहीं हैं वे इन्हीं में उलझ-उलझकर राग-द्वेष में जलते हैं। सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि तुम संसार से केवल शुद्ध शरीर-निर्वाह लो और संसार के प्राणी-पदार्थों में भूलो नहीं। यहां "भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु" का कोई निर्लिप्तवादपरक अर्थ करने का दुस्साहस न करे। यहां यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कबीर साहेब कहते हैं कि भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगो और उनमें भूलो नहीं। पहले भोग की परिभाषा कर लेनी चाहिए कि वे कौन-से भोग हैं जिन्हें सद्गुरु अनासक्तिपूर्वक भोगने के लिए कहते हैं। वे भोग ममता, मैथुन, नशा, नाच-रंग आदि नहीं हैं, किन्तु शरीर-निर्वाह की क्रियाएं हैं, जिनसे शरीर यात्रा चलती है। शुद्ध शरीर-निर्वाह की क्रियाएं भी तो भोग कहलाती हैं। इन्हें प्रारब्ध-भोग कहते हैं, अर्थात शरीर-निर्वाह-कर्म। जो सावधान नहीं रहता है वह इनमें भी भूल जाता है। खान-पान, वस्त्र, आश्रम, प्राणी, पदार्थ इन सब में राग या द्वेष बनाकर आदमी अपने लक्ष्य को ही भूल बैठता है।

सद्गुरु कहते हैं कि शरीर-निर्वाह के प्राणी-पदार्थों में न उलझकर तथा शरीर की आरामतलबी में न फंसकर इससे योग-युक्ति की साधना करो। शरीर को भोगों में न फंसाकर योग में लगाओ। मनुष्य जितना भोगों में लीन होता है उतना उसका विवेक नष्ट होता है और जितना वह अपने तन-मन को योग में लगाता है, उतनी उसकी आत्मा ऊपर उठती जाती है। भोग का फल शोक है और योग का फल मोक्ष एवं शांति हैं।

उद्देश्य में दृढ़ता रखो

"जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो।" यदि इस प्रकार अपना मंतव्य रखते हो तो इसी मंतव्य में अपने चित्त को बांध दो। भोग से विरक्ति तथा योग में अनुरक्ति यदि तुम्हारा निश्चय हो तो तुम निश्चित ही सौभाग्यशाली हो। यह निश्चय, यह मंतव्य अत्यन्त दुर्लभ है। यह ख्याल संसार में किसी-किसी के मन में आता है। वे धन्य हैं जिनके मन से भोगों का कीचड़ दूर हो गया है और जो योग की स्वच्छता में पहुंच गये हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा ख्याल है तो तुम धन्य हो और ध्यान रखो कि इस मंतव्य से कभी विचलित नहीं होना। बल्कि इस मंतव्य में ही अपने चित्त को बांध देना। मन में निश्चय कर लेना कि अब भोग-कीचड़ में आजीवन नहीं पड़ूंगा और मृत्युपर्यन्त योग-साधना में बिताऊंगा। मन को वश में रखने का प्रयास ही तो योगाभ्यास है और मन को वश में कर लेना योग है। भोग मृत्यु का रास्ता है, योग अमरत्व का। भोग देहपरायणता है और योग आत्मपरायणता। भोग मलिनता है और योग स्वच्छता। भोग पीड़ा का पथ है और योग शांति का रास्ता। वह धन्य है, पूजने योग्य है जिसने भोग का पथ छोड़कर योग का रास्ता अपनाया है।

दारुण मन से सावधान

"नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो।" ध्यान रहे, यदि तुमने भोग-पथ छोड़कर योग-पथ नहीं अपनाया तो समझ लो कि ये इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े दारुण हैं। ये बड़े भयंकर पीड़ाप्रद हैं। तुम्हें भोगों की तरफ झुकते देखकर ये चाल कुचाल कर देंगे। ये तुम्हें लेकर रसातल पहुंचा देंगे। मन तो अनादिकाल से विषयों से वासित है ही, जीव को उधर झुकते पाकर यह तो नरक में डुबाने के लिए तैयार बैठा ही है। इस जीव से घिनौने-से-घिनौने कर्म कौन करवा देता है जिनके फल में जीव को जीवनभर केवल पश्चाताप करना पड़ता है! यह मन ही वह दारुण, कठोर एवं भयंकर ठाकुर है। ध्यान रहे, मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह केवल संस्कारों का समुच्चय है; परन्तु वह अनादिकाल से इतनी गलत आदतों वाला हो गया है कि थोड़ी-सी असावधानी में वह जीव को नीचे ले जाता है। मन के भुलावे में पड़कर ही मनुष्य व्यभिचार, चोरी, हत्या तथा अन्य घृणित कर्म करता है और उनके फल में पेटभर दुख भोगता है।

"बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो।" दुष्कर्म करने पर फल यही होता है कि सब लोग उसे बांधते हैं, मारते हैं और दण्डित करते हैं, तब उसका प्रमाद ठंडा होता है। यहां 'सब' से अर्थ अन्दर की वासनाएं तथा

बाहर प्राणी, दोनों हैं। दुष्कर्म करने वाले को तो पहले मन ही परेशान करता है। खोटे कर्म के परिणाम में बनी मन की वासनाएं ही जीव को रात-दिन जलाती रहती हैं। वे मानो भीतर-ही-भीतर दुष्कर्मी जीव को बांधती, मारती और दंडित करती हैं। कुकर्मी जीव मन में ही सदैव जलता रहता है। परन्तु अधिक कुकर्म करने से उसे बाहर के भी सब लोग धिक्कारते हैं। उसके नाम पर थूकते हैं। उसे बांधते, मारते तथा दंडित करते हैं। अपने दुष्कर्मों के परिणाम में भीतर-बाहर सताये जाकर जो पस्त होता है वह कल्याण-साधना करने का अवसर तथा बल खो चुका रहता है। जो आदमी दुष्कर्म में जिन्दगी बिताते हुए अपने आप को संसार में पस्त कर देता है उसका पुनः जगना बड़ा कठिन हो जाता है।

जो लोग भोगों से अपने मन को स्ववशतापूर्वक नहीं रोकते उनका मन उन्हें भोगों की आसक्ति में बांधकर, भलीभांति इन्द्रियों की दासता कराता है। विषयासक्ति में पड़कर सारे मान-अभिमान थोड़े ही दिनों में चूर्ण हो जाते हैं। स्ववशतापूर्वक जो अपने मन को नहीं रोकता, उसको पराधीन होकर रोकना पड़ता है, क्योंकि भोगों से अत्यन्त विषयासक्ति हो जाती है और अत्यन्त विषयासक्तवश मनुष्य की मन-इन्द्रियां हरक्षण चलायमान रहती हैं। परन्तु हरक्षण भोगों को भोगने की सुविधा, शक्ति, समय, योग्यतादि न रहने से उसे विवश होकर अपने मन-इन्द्रियों को हरक्षण रोकना पड़ता है। अतएव पहले ही रोकना अच्छा है।

मन मारना ही अच्छा है

एक सेठ से एक व्यक्ति ने सौ रुपये लिए! एक माह में लौटाने को कहा; परन्तु कई माह हो गये उसने रुपये नहीं दिये, यद्यपि उसके घर में रुपये थे। सेठ ने एक दिन एक युक्ति सोची और उससे कहा—भाई, यदि तू मेरे रुपये नहीं दे सकता तो सौ प्याज खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें क्या बड़ी बात है! सौ प्याज रखे गये, वह खाने लगा; परन्तु बड़ी कठिनता से आठ-दस खा सका। उसकी आंख-नाक से पानी बहने लगा। उसने कहा—सेठ जी! यह तो मेरे वश की बात नहीं है। सेठ ने कहा—अच्छा, सौ मिर्चे खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। वह सोचा इसमें झार नहीं होता, खा लूंगा। वह खाने लगा, परन्तु दो-चार ही मिर्चे खाने में उसका कलेजा जलने लगा। सेठ ने कहा—अच्छा, यदि तू सौ मिर्चे नहीं खा सकता तो सौ जूते खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें न झार है न तितास, इसे सह लूंगा। निदान उसकी पीठ पर जूते पड़ने लगे, जब बीस जूते पड़े, तब उसके होश-

हवास उड़ने लगे। उसने सोचा कि यदि सौ जूते इस शरीर पर पड़ेंगे तो प्राण-पखेरू पयान कर देंगे। अतः उसने सौ रुपये घर से लाकर सेठ के सामने गिन दिये।

मनुष्य का मन विषयों में दौड़ता है, परन्तु वह उनसे रोकता नहीं, प्रत्युत यथाप्राप्त विषयों को भोगता है। विषयों के वश स्थल-स्थल पर ठोकरें खाता है। बल-वीर्य-शरीर से क्षीण होकर तथा स्त्री-पुत्रादि के मोहरूपी खूंटे में बंधे-बंधे वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है और दीन-हीन हो जाता है। तब विवश होकर विषयों को छोड़ता है। यही प्याज, मिर्चा और जूते खाकर रुपये देना है। जो विषयों में न फंसकर पहले ही मन को रोक लेता है, उसे संसार की अवदशा रूपी प्याज, मिर्चे और जूते नहीं खाने पड़ते।

अतएव प्याज, मिर्चे और जूत खाकर रुपये क्यों दिये जायें! पहले ही रुपये क्यों न दे दिये जायें, जिससे उपर्युक्त आपत्ति न आये। इसी प्रकार सारी अवदशा सहने के पहले ही विषय-वासनाएं छोड़ दी जायें तो सर्वोत्तम है। नहीं तो विषयों में पड़कर सारी मस्ती झड़ जायेगी।

त्याग करन है सबन को, बचत न कोई देखाय।
चहै तजै दुख भोगि कै, चाहै प्रथम हटाय॥

(भगवान, साखी सुधा-87)

मौत का दौरा निश्चित

"जबहीं सावत आनि पहूँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो।" सावत का शाब्दिक अर्थ है सौतियाडाह एवं ईर्ष्या। किन्तु यहां इस पंक्ति में प्रयुक्त 'सावत' शब्द 'शामत' का अपभ्रंश लगता है। शामत कहते हैं विपत्ति को। यहां शामत एवं सावत का लाक्षणिक अर्थ है मौत एवं कालबती। साहेब कहते हैं कि सांसारिकता में डूबे हुए आदमी के अंत समय में जब कालबली आ धमकता है तब उसकी पीठ पर मौत के डंडे अच्छी तरह से पड़ते हैं। इन सबका अर्थ है कि जिसके मन में बुरे संस्कार हैं उसे अंतकाल में अपने मन में बड़े भयानक-भयानक दृश्य दिखाई देते हैं। वहां बाहर से कोई पीड़ा देने वाला नहीं आया रहता है। मौत भी कोई ऐसा जानवर नहीं है जो बाहर से आये। मौत तो शरीर की अवधि के समाप्त होने को कहते हैं। वस्तुतः अपने ही दुष्कर्म तथा संसारासक्ति विचित्र मानसिक रूप लेकर जीव को पीड़ित करते हैं। अंतकाल में आदमी मोहवश बेचैन होकर तड़पता है। वह नहीं चाहता है कि अपने माने हुए शरीर, परिवार, घर, धनादि को छोड़कर सदा के लिए चला जाये; परन्तु मौत से तो कोई छूटने वाला नहीं है। सद्गुरु कहते

हैं—"ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहु के न छुटिहैं हो।" आदमी को मरते देखकर उसके स्वजन कुटुम्बी खड़े देखते व रोते हैं और भगवान-भवानी मनाते हैं कि हमारे पिता, माता एवं पुत्र को छोड़ दो, परन्तु किसी के भी कहने से मौत के पंजे से कोई नहीं छूट सकता। संसार के बड़े-बड़े समर्थ कहलाने वाले तथा भगवान-भवानी कहलाने वाले मौत के मुख में जाने से बच नहीं सके। इस संसार में सबको अचानक मौत के मुख में जाना है।

"एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो।" एक तरफ तो कुटुम्बी लोग विनयावनत होकर मौत की विनती करते हैं कि हमारे प्यारे स्वजन को छोड़ दो, दूसरी तरफ मौत विनती करने पर भी नहीं मानती। मौत कब किसको छोड़ने लगी! यहीं तो सब विवश हैं। लोग नीति-अनीति करके धन कमाते हैं, भवन बनवाते हैं, परिवार-वृद्धि करते हैं तथा इस संसार में रहकर बड़ी लम्बी-लम्बी बातें सोचते हैं, परन्तु बीच में निर्दय मौत आ जाती है और मनुष्य को ऐसा चुपके-से उठा ले जाती है कि कोई पता भी नहीं पाता और उसकी सब आशा के महल बीच में ढह जाते हैं। मौत के समय में तो मनुष्य बिल्ली के सामने पड़े चूहे की तरह असहाय हो जाता है। उस समय तो उसे सब कुछ छूट जाने का भय सवार हो जाता है, फिर होश-हवास कहां ठिकाने रहे! जिन्होंने पहले आध्यात्मिक कमाई नहीं की है वे मौत के समय में अपने उद्धार का कोई रास्ता नहीं पा सकते।

स्वस्थ अवस्था में ही अपने स्वरूप तथा वासना-बन्धनों को पहचानो

ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु कहते हैं—"अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो।" अर्थात तुम जीवनभर अपनी आत्मा से अपरिचित रहे और जिनसे तुम्हारी आत्मा बंधती है उन वासनाओं की पहचान भी तुमने कभी नहीं की, तो मरती बेला में इन गूढ़ विषयों की परख कैसे हो सकेगी तथा कैसे वासनाओं का त्याग होकर स्वरूपस्थिति हो सकती है! निजस्वरूप चेतन आत्मा तथा उसके शत्रु विषय-वासना, ये दोनों बातें सूक्ष्म हैं। इन्हें स्वस्थ अवस्था में सच्चे पारखी सद्गुरु एवं संतों की शरण में रहकर तथा उनकी सेवा-उपासना कर उनसे समझा जाता है और समझकर वासनाओं का त्याग किया जाता है एवं निजस्वरूप चेतन में स्थित हुआ जाता है। वासनानिवृत्ति तथा स्वरूपस्थिति दीर्घकाल की आध्यात्मिक साधना के फल होते हैं। पहले तो इनकी पहचान एवं परख ही कठिन होती है, फिर पीछे वासना का त्याग एक बहुत बड़ा काम होता है। जब वासना का त्याग हो

जाता है तब स्वरूपस्थिति तो सहज हो जाती है, परन्तु यह सब मरती बेला में कैसे हो सकता है! कुछ लोग तो जो जीवनभर के दुराचारी होते हैं वे जब मर जाते हैं तब उनके कान में किसी गुरु नामधारी व्यक्ति से मंत्र-दान कराते हैं। किन्तु यह राख में हवन करने के समान है। अतएव मौत के पहले जब तक स्वस्थ अवस्था है मनुष्य को चाहिए कि वासनाओं को पहचानकर उन्हें त्याग दे और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाये। मौत के पहले जब अपनी पक्की स्थिति रहती है तब मौत के समय भी वही दिव्य स्थिति बनी रहती है। किन्तु जो जीवनभर देहाभिमान और वासना में डूबा रहा, वह मरते समय कुछ नहीं कर सकता।

देहाभिमानी का उद्धार नहीं

"लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो।" अहंकारी जीवात्मा को मौत अपने पास बुला लेती है और उससे बात तक नहीं पूछती, सीधे पुनः योनियों में डाल देती है। क्योंकि ऐसे जीवों ने अपने जीवन में भवतारक सद्गुरु-केवट से कभी कोई सरोकार नहीं रखा। जब उन्हें गुरुजन मिले तब उन्होंने उनसे शरीर का अहंकार लेकर बातें कीं। जीवनभर अहंकार में डूबा, सुपथ बताने वाले संत-गुरु से विमुख मनुष्य केवल खुराफाती संस्कारों का जखीरा बटोरता है। ऐसा आदमी भले सांसारिक उपलब्धियों से संपन्न हो, परन्तु वह आध्यात्मिक दिशा में शून्य होता है। इसलिए ऐसे जीव के लिए सद्गुरु ने यमराज की तरफ से बड़ी हेय भावना का वर्णन किया है, "लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै"। जैसे कोई बहुत बड़ा अपराधी हो, वह दंडाधिकारी द्वारा बुला लिया गया हो और उससे अपनी सफाई देने की बात भी न पूछी गयी हो, उसे सीधे कारावास में डाल दिया गया हो। यही दशा उस वासनावशी जीव की होती है जिसने अपने जीवन में कल्याण का काम तो कुछ भी न किया हो, प्रत्युत निरंतर शरीराभिमान में ही डूबा रहकर कुसंस्कारों का संग्रह किया हो।

पवित्र संस्कारों की पूंजी ही धन है

"जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो।" जिस यात्री की गठरी में फल-मेवे या खाने की कोई सामग्री नहीं है वह निर्धन होकर भटकता है। इस पंक्ति में आया हुआ 'समर' शब्द अरबी भाषा का है। इसके अर्थ होते हैं फल, मेवे, परिणाम, सत्कर्मों के फल आदि। कबीर साहेब कहते हैं कि जिसके पास में अच्छे संस्कारों की पूंजी नहीं है वह आज तथा आगे

निर्धन होकर भटकता है। मनुष्य की यह सबसे बड़ी भूल है कि वह रुपये, पैसे, चांदी-सोना, मोती, हीरे, जमीन-मकान, पशु-परिवार आदि को ही धन समझता है। यह ठीक है कि ये भी धन हैं। परन्तु मनुष्य का असली धन उसके मन के पवित्र संस्कार हैं और यह धन जिसके पास नहीं होता है वह महा निर्धन है। भौतिक धन में तो मुख्य धन रोटी है जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। जिनको चौबीस घंटे में एक बार भी पेटभर रोटी न मिलती हो ऐसे लोग दुखी हों तो उनका दुख स्वाभाविक लगेगा; परन्तु ऐसे लोग संसार में बहुत कम होंगे। किन्तु पेटभर खाते हुए भी मन से हरदम दुखी बने तो संसार के अधिकतम लोग हैं। क्योंकि उनके पास पवित्र संस्कारों की पूंजी नहीं है। पवित्र संस्कार सत्कर्मों के फल हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में संयम का पालन करता है और दूसरों के लिए भलाई का व्यवहार करता है, उसके इन पवित्र कर्मों के फल में स्वच्छ संस्कार होते हैं। यह धन जिसके पास है वह महा धनी है। संसार के बड़े-बड़े संतों के पास यही धन था। आज भी जो सच्चा संत एवं सच्चा इनसान है उसके पास यही धन होता है। पैसे वाले स्वयं पैसे वालों को पूज्य नहीं मानते, किन्तु पवित्रात्माओं को पूज्य मानते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके मन में पवित्र संस्कार नहीं हैं वह आज भी निर्धन बना भटक रहा है और आगे भी भटकेगा। धनी-निर्धन, विद्वान-अविद्वान, राजा-प्रजा, गुणी-अवगुणी—सब इसलिए अभाव की अनुभूति में मन-ही-मन जल रहे हैं, क्योंकि वे पवित्र संस्कारों की पूंजी से अकिंचन हैं।

पहले से सावधान हो जाओ

"जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।" जैसे आगासोची कहार पहले ही मछलियां मारकर तथा उसे सुखाकर अपनी बखारी में भर लेते हैं और उसे बेच-बेचकर खाते हैं, वैसे जो साधु-विचार एवं उत्तम विचार के व्यक्ति हैं वे पहले ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि को मारकर इनके विपरीत विचार, क्षमा, संतोष, विवेक, वैराग्य, समतादि सद्गुणों को अपने हृदय में संचित कर लेते हैं। यह कहरा प्रकरण होने से इसमें कहारों का रूपक जगह-जगह आयेगा ही। यहां इस पंक्ति में "धरिन मच्छ भरि डेहरि हो" कहारों द्वारा मछली मारकर बखारी में भर रखने का रूपक है, जिसके सहारे सद्गुरु ने दुर्गुणों को मारकर सद्गुण-धन को हृदय में संचित करने का निर्देश किया है। "जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन" पहले ही से सावधान लोग स्वस्थ अवस्था में ही अपने मन-इन्द्रियों

को साध लेते हैं। उनकी समझ की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए जो अपने कुमारपन एवं युवापन से ही साधना-मार्ग में लग जाते हैं। जो चलने के पहले ही रास्ते के लिए खर्चे का जुगाड़ कर लेता है वह समझदार है। इसी प्रकार वह प्रशंसनीय समझदार है जो जरा, रोग और मृत्यु के पूर्व ही अपने शुभाचारों द्वारा पवित्र संस्कारों का अर्जन कर लेता है। जैसे 'गांठीदाम' तथा 'कंठेज्ञान' ही काम आते हैं, वैसे अपने द्वारा ठीक से आचरित पवित्र कर्मों के संस्कार ही जीव के लिए आज तथा आगे सुख के साधन बनते हैं। अतएव जो पहले से सावधान हैं वे ही समझदार हैं।

संत अकिंचन होकर सम्पन्न हैं

"जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो।" जिसके हाथ-पैर कुछ नहीं, उसने पाल की रस्सी पकड़कर अपनी नौका घाट पर लगा ली। अर्थात संसार की दृष्टि से जिसे अकिंचन व्यक्ति कहा जा सकता है कि उसके तो हाथ-पैर कुछ नहीं हैं, उसने अपने पवित्र संस्कारों की पूंजी के बल पर महान आत्म-शक्ति का संचय कर लिया और अपनी जीवन-नौका को शांति एवं मोक्ष के घाट पर लगा लिया। 'सोहर' वह मांगलिक गीत है जिसे पुत्र पैदा होने पर गाया जाता है। परन्तु 'सोहर' के दो अन्य भी मिलते-जुलते अर्थ होते हैं, वे हैं, 'नाव का फर्श' तथा 'पाल खींचने की रस्सी'। यहां रूपक में पाल खींचने की रस्सी ही 'सोहर' का अर्थ है। इस पंक्ति में सद्गुरु ने उलटवांसी का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि जिसके हाथ-पैर नहीं थे उसने पाल की रस्सी पकड़कर नौका को किनारे लगा लिया। हाथ-पैर न होने का लाक्षणिक अर्थ है सामर्थ्य से रहित होना। संसारी लोग संतों को ऐसे ही समझते हैं। वे मानते हैं कि साधु अकिंचन एवं असमर्थ होते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि हे संसारियो! जिन्हें तुम अकिंचन, गरीब एवं निर्बल समझते हो, वे संत ही सच्चे अर्थों में सम्पन्न, धनी एवं सबल हैं। वे ही अपनी जीवन-नौका के पाल की रस्सी पकड़कर, उसे भव-पार लगा लेते हैं। सच्ची संपन्नता तो मन की पवित्रता की होती है। जिसका मन पवित्र है वह मानो भवसागर से पार है। अच्छे-से-अच्छे धनपतियों का मन प्रसन्न नहीं रहता। प्रसन्न तो उसका मन रहता है जिसका हृदय राग-द्वेष से निवृत्त है। जिसके मन का भय सर्वथा दूर हो गया है वह सदैव प्रसन्न होता है। परन्तु मन का भय सर्वथा दूर तभी होता है जब राग एवं मोह सर्वथा दूर हो जायें। यह सब पवित्र संस्कारों की पूंजी तथा भीतरी सम्पन्नता कहलाती है। जिसके राग, मोह तथा भय दूर हैं, जो सदैव प्रसन्न है, मानो उसकी नौका भव-पार हो

गयी, और वह सबसे बड़ा धनी हो गया।

विवेक-पथ में बढ़ो

"पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।" हे पगले! तेरे हाथों में पेलना एवं हत्था होते हुए तू किनारे-किनारे क्या टटोल रहा है! अरे, बीच धारा में हत्था मारते हुए नौका उस पार निकाल चले चल! मानव-शरीर नौका है, विवेक पेलना एवं हत्था है। उससे वासनाओं का पानी पीछे ठेलते हुए जीवन-नौका को आगे बढ़ाते चलो। पूजा-पाठ तथा कर्मकांड-जैसी छिछली क्रियाओं में समय न बरबाद करो। इस प्रकार तीर-तीर टटोलना छोड़ दो। कम पानी की नदियों में नाविक बांस-बल्ली नदीतल में मारते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। परन्तु जब नदी में पानी बहुत गहरा होता है जहां कि बांस-बल्ली से थाह नहीं मिलती, वहां नाविक नाव के दोनों तरफ खूंटे के सहारे बंधे हुए हत्थों से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। इन हत्थों के जो हिस्से हाथ में होते हैं वे अपेक्षया पतले होते हैं और जो पानी में होते हैं वे चौड़े होते हैं। उन्हें हत्था एवं पेलना कहा जाता है। साहेब कहते हैं कि भवसागर का पानी गहरा है। अपनी जीवन-नौका कर्मकांडों की बांस-बल्ली से तीर-तीर टटोलते हुए चलने से भवपार नहीं हुआ जा सकता है। इसके लिए विवेक के पेलने से वासना का पानी पीछे पेलते हुए जीवन-नौका को आगे गतिशील करना चाहिए। जीवन का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसे केवल कर्मकांडों में उलझाकर मत व्यतीत करो, किन्तु विवेक का पथ अपनाओ और वासनाओं को जीतो।

पवित्र संस्कार बनाये रखो

"उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।" साहेब दूसरी दिशा में भी सावधान करते हैं कि यदि पार जाने की हिम्मत न हो तो उथले ही में रहो अर्थात यदि इस जीवन में पूर्ण मोक्ष न ले सको तो इतना अवश्य करो कि मोह-माया तथा दुष्कर्मों की गहराई में मत डूबो, किन्तु शुभकर्मों में लगे रहो। यह मनुष्य-जीवन हाथ का धन है। इतने सत्कर्म तो अवश्य होने चाहिए कि यह जीव पुनः मानव-शरीर में आ सके तथा मोक्ष-साधना को आगे बढ़ा सके। इस जीवन की पूर्ण सफलता है मोक्ष की प्राप्ति। सारी वासनाओं को त्यागकर निजस्वरूप की अविचल स्थिति प्राप्त हो जाना जीवन की अन्तिम ऊंचाई है। परन्तु यदि मनुष्य इसी जीवन में इतना न कर सके तो शुभकर्मों की पूंजी अवश्य इकट्ठा करे। वह मोह-माया की गहराई में न डूबे।

अपने माने हुए शरीर तथा परिवार के लिए दुष्कर्म न करे। जितना संभव हो दूसरों का हित करे। अपने मन को शुभ संस्कारों से संस्कारित करे। यदि इस प्रकार वह शुभ मार्ग में चलता है तो उसकी मानवता बनी रहेगी। वह इस शरीर के छूट जाने पर पुनः शुभ संस्कारों से संस्कारित विवेकसम्पन्न मानव-शरीर पायेगा और अपने कल्याण-पथ में आगे बढ़ जायेगा। साहेब कहते हैं "मति हाथहु की खोवहु हो" यह मानव-शरीर हाथ में मिला धन है, मूल पूंजी है। यदि मूल पूंजी छूट जायेगी तो व्यापार किस पर होगा! यदि मानव-शरीर ही आगे न मिले और यह जीव हाथी-घोड़ा खानियों में चला जाये तो वहां क्या करेगा! अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह यदि मोक्ष न ले सके तो इतना अवश्य करे कि मानवीय शुभाचार न छोड़े, जिससे वह कल्याण-पथ का पथिक आगे भी बना रहे।

भीतर और बाहर के ताप

"तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।" साहेब यहां उलटवांसी में कहते हैं कि तुम नीचे की धूप में तथा ऊपर की गरम बालुका में जल रह हो। घाम का अर्थ धूप तथा भुंभुरी का अर्थ गरम बालुका है। लोक में मनुष्य के ऊपर एवं सिर पर धूप होती है तथा उसके नीचे एवं पैर के तल में गरम बालू होती है। परन्तु यहां साहेब कहते हैं कि नीचे की धूप तथा ऊपर की भुंभुरी से तुम जलते हो। तुम्हें आज तक कहीं भी शीतलता नहीं मिली। 'तर का घाम' है मन का क्लेश तथा 'ऊपर की भुंभुरी' है प्राणी-प्रदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव। इन दोनों में अबोधी मुनष्य निरन्तर जलता है। उसे कहीं क्षण मात्र के लिए भी शांति नहीं मिलती। मनुष्य के भीतर मन है। वह नाना आशंकाओं, मोह-ममताओं, राग-द्वेष, चिंता-फिक्र तथा अनेक द्वन्द्वों से निरन्तर जलता रहता है। यही मानो भीतर की धूप है। गरम बालुका स्थूल होती है और धूप सूक्ष्म होती है। इसी प्रकार बाहर के प्राणी-पदार्थ तथा शरीर स्थूल होते हैं और मन सूक्ष्म होता है। इसीलिए सद्गुरु ने मनजनित पीड़ा को घाम तथा शरीर एवं प्राणी-पदार्थजनित पीड़ा को भुंभरी कहा है। उलटवांसी में कथन उलटा-जैसा लगता है, परन्तु अर्थ सीधा होता है। सूक्ष्म मन की पीड़ा धूप है जो भीतर का है। स्थूल प्राणी-पदार्थ एवं शरीरजनित पीड़ा भुंभरी है जो ऊपर का एवं बाहर का है। अविवेकवश मन तो पीड़ा देता ही है, बाहर के प्राणी-पदार्थों तथा शरीर से भी जीव के सिर पर नाना उपद्रव आते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान बिना जीव को कभी शीतलता नहीं मिलती। सद्गुरु कहते हैं कि हे मोहग्रस्त मानव! भीतर की मानसिक पीड़ा तथा बाहरी संसार के

उपद्रवों से ग्रस्त होकर तुम्हें कभी शीतलता नहीं मिल रही है।

विवेक-छत के नीचे शीतलता है

"ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो।" तुम उपर्युक्त तापों में सदैव जलते, तपते, गलते तथा क्षीण होते हो, किन्तु इन तापों को जानकर भी तुम इनसे बचने के लिए विवेक की छत क्यों नहीं बना लेते? सद्गुरु का मानव से कितना करुणापूर्वक आग्रह है कि दुखों के इतने तापों को झेलते हुए भी तुम उनसे बचने के लिए छतरी क्यों नहीं छा लेते हो! छतुरिया छाता को कहते हैं जो लोह की तीलियों एवं दंडे से बना रहता है और जिस पर कपड़ा तना रहता है। छप्पर, खपड़े, पत्थर, ईंट, सीमेन्ट लोहे आदि से बनी छत को भी छतुरिया कहते हैं। धूप और भुंभरी से बचने के लिए किसी प्रकार छत चाहिए। यहां छतुरिया एवं छत विवेक है। विवेक की छत के नीचे ही शीतलता की छाया मिलेगी। इस ताप भरे शरीर एवं संसार में शांति पाने का एक ही रास्ता है—विवेक। विवेक उस मानसिक शक्ति का नाम है जिससे मन तथा संसार का कच्चाचिट्ठा दिखाई देता है। इसी से सत-असत की परख होती है। विवेक ही वृद्धता एवं बुजुर्गानी है। बूढ़ा होने पर भी यदि उसमें विवेक नहीं है तो वह बच्चा है, किन्तु शरीर से बच्चा होने पर भी यदि उसमें विवेक है तो वृद्ध के समान आदरणीय है। सुन्दरदास जी ने ठीक ही कहा है 'जाहि को विवेक ज्ञान ताही को कुशल जान, जाही ओर जाये वाको वाही ओर सुख है।' हृदय में विवेक उदित होने पर मन का ताप दूर हो जाता है। जिसके हृदय में विवेक नहीं है उसके मन का ताप जा नहीं सकता, और जिसके मन में विवेक होगा उसके मन में ताप रह नहीं सकता। हृदय में विवेक उदय होने पर शरीर तथा प्राणी-पदार्थजनित उपद्रवों के ताप को सहने की शक्ति आती है। विवेक-शक्ति पूर्ण उदय हो जाने पर तो भीतर में द्वन्द्व रह ही नहीं जाता, बाहर के उपद्रव भी तुच्छ लगते हैं। इस संसार में ऐसा हो नहीं सकता कि प्रतिकूलता न आये। उसके प्रभाव से बचने के लिए मात्र एक तरीका है—विवेक। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम भीतर-बाहर के दुख से जलते हो, तो उससे बचने का उपाय क्यों नहीं करते!

अब अपने आप को न ठगाओ

"जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कस होई हो।" तुमने जो कुछ दुख का खेल आज तक किया सो किया, अब पुनः उसे क्यों करो! खेड़ का मुख्य अर्थ है गांव। वैसे खेड़ का अर्थ खेट एवं आखेट भी होता है। खेट को नीच और अधम भी कहते हैं। यहां खेड़ का तात्पर्य खेल है, जो मलिन

एवं दुखदायी कर्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहेब कहते हैं कि तुमने आज तक भूल-चूक में जो कुछ दुखदायी एवं मलिन कर्म किये सो किये, अब वैसे कर्मों का खेल मत करो। अब जग जाओ। 'एक बार ठगावै तो बावनबीर कहावै, बार-बार ठगावै तो गप्पूनाथ कहावै।' एक बार ठगा गये सो ठगा गये, अब बारम्बार अपने आप को मत ठगाओ।

संशय और कुमति का त्याग करो

"सासु ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो।" तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी बहू को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। तुम संतों से लज्जा कर उनसे अपना मुख छिपाते हो। तुम्हारा उद्धार कैसे होगा! संसार में अधिकतम सासु और ननद बहू को कष्ट देती हैं। कबीर साहेब ने संशय तथा कुमति के लिए सासु और ननद को मुहावरा ही बना लिया है। मनुष्य की मनोवृत्ति मानो बहू है और संशय तथा कुमति क्रमशः सासु और ननद हैं। इसका अर्थ यह है कि संशय और कुमति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति निरन्तर पीड़ित की जा रही है। मनुष्य की मनोवृत्ति में संशय के घुन लगे रहते हैं। उसे अपने आत्म-अस्तित्व पर संशय है, आचार पर संशय है, साथियों एवं पड़ोसियों की नेकनीयती पर संशय है, अपने जीवन-निर्वाह एवं भविष्य की खुशहाली पर संशय है। वह हर तरफ से हर समय संशय से घिरा रहता है। संशय मनुष्य के चित्त को चालते हैं। दूसरी है कुमति। कुमति तो सारे दुखों का कारण है। कुमति एवं कुबुद्धि होने से ही तो आदमी कुपथ पर चलकर अपने आप को दुखों में डाले रहता है। ये संशय तथा कुमतिरूपी सासु-ननद जीव की मनोवृत्ति को उलट-पलट-कर जलाती रहती हैं, परन्तु जीव ऐसा निर्लज्ज बन गया है कि इन्हीं के बीच में सदैव पड़ा रहता है। मानसिक विकारों से छूटने का साधन साधु-संगत है। परन्तु साधु-संगत से मनुष्य अपना मुख छिपाता है। उनसे लज्जा करता है। मनुष्य की बुद्धि ऐसी उलटी हो गयी है कि वह दुर्गुणों में पड़े रहने में तो लज्जा नहीं करता, किन्तु संतों से लज्जा करता है जिनसे अपना सुधार है।

बुढ़ापा आने के पहले जागो

"गुरु भौ ढील गोनी भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।" गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच हो जाती है, इसी प्रकार मांस-पेशियों के ढीले हो जाने पर शरीर लचपच हो जाता है। देखो, बूढ़े का शरीर कितना लचपच होता है। न उसके पैर स्थिरता से जमीन पर पड़ते हैं, न हाथ ठीक से काम देते हैं, न शरीर के अन्य अंग। यहां तक कि बुद्धि में भी सदैव विस्मृति बनी रहती है।

बूढ़ा तो अपने शरीर की दैनिक क्रिया करने में ही अपने को असमर्थ पाता है। वह आलसी बना बिस्तर पर पड़ा रहना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह पर-सेवा तथा आत्म-साधना का काम क्या कर सकता है! साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें बारम्बार गुरुजन समझाते हैं कि तुम पर-सेवा तथा आत्म-कल्याण की साधना में लगो, परन्तु तुम जीवनभर इनसे असावधान रहे, और अब तो गुड़ ढीला हो जाने से गोनी लचपच हो गयी है। शरीर बूढ़ा हो जाने से तुम्हारी सारी इन्द्रियों ने जवाब दे दिया है। "अब पछिताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयीं खेत।"

विवेक-वैराग्य अपनाओ

"ताजी तुरकी कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।" तुमने तेज ताजी-तुर्की घोड़े की सवारी नहीं की अपितु काठ के घोड़े की सवारी की। विवेक-वैराग्य ताजी और तुरकी घोड़े हैं। ताजी अरबी घोड़ों को कहते हैं तथा तुरकी तुर्किस्तान के घोड़ों को। ये बड़े तेज होते हैं। यहां ताजी-तुरकी के लक्षणा अर्थ हैं विवेक-वैराग्य। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने अपने जीवन में विवेक-वैराग्य को नहीं साधा, अपितु देहाभिमान में डूबा रहा। काठ के घोड़े पर सवारी करने से क्या फल होगा! वह तो मनुष्य को एक पग भी नहीं ले जा सकता, क्योंकि वह जड़ है। हम जड़ शरीर के अहंकार में डूबे हैं। यही मानो काठ के घोड़े पर चढ़कर भवपार जाने का दुस्साहस है। देहाभिमानी आदमी भक्ति-मार्ग में लगता है, परन्तु वह यदि किसी-न-किसी प्रकार देह की पूजा में ही जीवनभर लगा रहता है तो यह भी उसका काठ के घोड़े पर चढ़ना ही है। यह ठीक है कि जीवित गुरु एवं उपास्य की देह की सेवा की जाये, क्योंकि उसमें चेतन निवास करता है। परन्तु मर जाने के बाद देह के आकार में पुतले, चित्र आदि बनाकर उन्हें पूजना तथा उन्हीं के राग-रंग में लीन रहना एक अविवेक ही है। कोई भी महापुरुष कुछ काल रहकर मर जाते हैं। उनकी जीवात्मा की उनके कर्मों के अनुसार गति होती है तथा उनकी पार्थिवदेह मिट्टी में मिल जाती है। यदि उनकी देह बहुत सुन्दर रही तो, इसका मतलब यह है कि जब उनका शरीर जवान था तब वह देखने में सुन्दर लगता था। परन्तु उनके बूढ़े हो जाने पर ही उनका शरीर कुरूप हो गया होगा। फिर मर जाने के बाद जबकि उनके शरीर का कहीं चिह्न भी अवशेष नहीं है तब उनके कल्पित शरीर के अंगों में कमलों की उपमा दे-देकर भाव-विह्वल रहना एक भावुकता है तथा कठोर भाषा में कहें तो घोर अविवेक है। यह ठीक है कि आरंभिक काल में कितने साधक किसी पवित्रात्मा देहधारी के

शरीर का ध्यानकर मन एकाग्र करते हैं, परन्तु इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि जब किसी की कल्पित देह को ही भगवान एवं चिन्मय मान लिया जाता है तब उससे कभी हटने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। सगुणवादी रागात्मक भक्ति-पथ-पथिकों की यही दशा है। वे तथाकथित भगवान के काल्पनिक करकमल, मुखकमल, हृदयकमल, पदकमल, नेत्रकमल, कपोल-कमल को छोड़कर अविनाशी शुद्ध चेतन स्वस्वरूप की ओर कभी ध्यान नहीं देते। यह सब काठ के घोड़े पर सवार होकर गंतव्य पर पहुंचने का दुराग्रह ही है।

बचपना छोड़ो

"ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोई नाचे हो। जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो।" जब कहारों में किसी का विवाह होता है तब हुडुक्क-जोड़ी बजते हैं और कहार लोग नाचते हैं। दूल्हा जिस राग-रंग की भावना में विवाह करने आता है दुलहन भी उसी राग-रंग में प्रेम करती है। रागात्मिका भक्ति करने वालों की यही दशा रहती है। वे स्वयं अपने आप को पत्नी मानते हैं और किसी एक कल्पित देव को अपना पति चुनकर उससे मिलने के विरह में व्याकुल होकर बजाते, गाते और नाचते हैं। जिस रंग का दूल्हा होता है उसी रंग में दुलहन प्रेम करती है। यह दूल्हा-दुलहन तथा लल्ला-लल्ली का कुसंस्कार प्रस्तुत कर भक्ति का स्वरूप ही चौपट कर डाला गया है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये लोग काठ के घोड़े पर सवार हैं जो कहीं नहीं जा सकता। ये लोग विवेक-वैराग्य रूपी ताजी-तुरकी घोड़े पर नहीं बैठते कि वे इन्हें गंतव्य तक पहुंचा दें।

जीवन जीने का कायदा जानो

"नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" नौका रहते हुए भी तुम उसे खेना नहीं जानते हो तो कैसे उस पार लगोगे! यह मानव-शरीर भवसागर से पार जाने के लिए नौका है। यह तुम्हें प्राप्त है, परन्तु तुम इसे बिताने का न सही कायदा जानते हो और न पूर्व से निर्मित वासनाओं को मिटाने का विवेक रखते हो, फिर कैसे भवसागर पार जाओगे! जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को कल्याण का एक साधन मात्र मानकर इसे विवेक से निभाता है, किसी प्राणी-पदार्थ को अपना न मानकर, उन्हें पथ में मिले हुए पथशाला की वस्तु समझकर सबसे अनासक्त रहता है और पूर्व की रही हुई मन की वासनाओं को विवेक-वैराग्य से नष्ट करता है, वह इसी जीवन में अपना उद्धार कर लेता है।

जीवन जीने का अच्छा तरीका है रामरस में लीनता

"कहहिं कबीर रामरस माते, जोलहा दास कबीरा हो।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग है कि कबीर साहेब कहते हैं कि रागात्मिका भक्ति का पट बुनने वाले भक्त लोग कल्पित रामरस में मतवाले रहते हैं। वे स्वरूप-राम को नहीं समझते। इस अभिप्राय में 'दास कबीर' हैं उपासक भक्त जो भक्ति की चुनरी बीनने से जोलाहा है। ऊपर की 27वीं से 30वीं पंक्ति तक इसका प्रसंग भी है। 'कहहिं कबीर' कहकर ग्रन्थकर्ता इस कहरा में अपने नाम की छाप तो लगा ही देते हैं, फिर इसके बाद 'जोलहा दास कबीरा' कहकर अपने आप को प्रस्तुत करने का कोई तुक नहीं दिखता। एक ही पंक्ति में 'कहहिं कबीर' कहकर फिर 'जोलहा दास कबीरा' कहना बे-तुका-सा लगता है। इसके अलावा 'माते' शब्द बीजक भर में प्रायः खंडन-परक है; अतएव यहां रामरस स्वात्माराम न होकर कल्पित राम या अवतार-राम के विषय में ही हो सकता है। अतएव इस पंक्ति का अर्थ हुआ कि कबीर साहेब कहते हैं कि भक्ति-चुनरी बीनने वाले भक्त लोग अवतार राम एवं कल्पित रामरस में मतवाले बने हैं। वे आत्माराम पर ध्यान नहीं देते, इसलिए वे नौका अछत इसे खेने का तरीका नहीं जानते।

इस पंक्ति को दूसरे ढंग से समझने के लिए सीधा एवं सपाट अर्थ अपेक्षित है जो भावार्थ में दर्शाया गया है, वह यह है कि कबीर साहेब अपने आप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थिति रूप रामरस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। बीजक भर में 'माते' शब्द खंडनपरक होते हुए भी अपवादस्वरूप कहीं-कहीं मंडनपरक होना असंभव नहीं है। 'कहहिं कबीर' कहने के बाद भी सद्गुरु ने अपने आप को विनम्ररूप से प्रस्तुत करने के लिए 'जोलहा' तथा 'कबीरा' भी कहा हो तो उन जैसे निर्मल संत के लिए स्वाभाविक ही है। यह अर्थ पहले से भी अधिक स्वाभाविक लगता है और कल्याणकारी तो इतना है कि कहना ही क्या!

जीवन जीने के पेशे अर्थात कर्म पूजा हैं

बाल बनाने, जूते टांकने, कपड़े बुनने, कपड़े सिलने, हल चलाने, गाय चराने, लकड़ी छीलने आदि मोटे काम के करने वालों में से कितने लोग, आज के इस प्रगतिशील-युग के शिक्षित लोग भी, अपने इन पेशों को लोगों से छिपाते हैं। वे इन सब कामों को घटिया कोटि के काम समझते हैं, जो उनकी गहरी भूल है। ये सारे काम तो इतने पवित्र हैं कि पूजा हैं। ये पूजा-

तुल्य नहीं, किन्तु स्वयं पूजा हैं। इनके समान दूसरी पूजा हो ही नहीं सकती। इन सारे कामों से ही तो समाज की सेवा होती है। संसार के महापुरुषों ने अपने मोटे कहे जाने वाले पेशे को छिपाया नहीं है। करोड़ों के पूज्य श्रीकृष्ण महाराज लकुटी-कमरिया लेकर गाय चराने वाले ग्वालेरूप में प्रसिद्ध हैं जिन्हें गीता तक में बारम्बार यादव कहा गया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने अतिथियों के पैर धोने का काम लिया ही था।[1] करोड़ों के श्रद्धेय सन्त ईसा को कौन नहीं जानता है कि वे बचपन से जवानी तक लकड़ी छीलने एवं बढ़ई का काम करते थे। वे बाइबिल में बढ़ई के बेटे प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के एक जुलाहे ऋषि कहते हैं, "वरुण, मेरे पाप ने मुझे रस्सी की तरह बांध रखा है; मुझे छुड़ाओ। हम तुम्हारी जलपूर्ण नदी प्राप्त करें। बुनने के समय हमारा तन्तु कभी टूटने न पावे, असमय में यज्ञ की मात्रा कभी विफल न हो।"[2] कबीर साहेब जुलाहे के यहां पले थे, तो जुलाहे का काम तनना-बुनना किये ही होंगे, और यह वस्त्र-वयन का काम बड़ा ही पवित्र समाज-सेवा का काम है। भोजन के बाद मनुष्य के लिए दूसरी आवश्यकता वस्त्र ही है। भोजन-वस्त्र युग्म शब्द का प्रयोग होता है। कबीर साहेब-जैसे उच्च विचारक जुलाहे के पवित्र काम को हीनभावना से कैसे देख सकते थे! कबीर कोई कच्चे धागे से नहीं बने थे। उन्होंने बीजक भर में जगह-जगह अपने आप को जुलाहा स्वीकारने में हिचक नहीं की है। इसी प्रकार रैदास, नानक, पल्टू आदि मूर्द्धन्य संतों ने अपने आप को मोची तथा बनिया कहा है। यह दूसरी बात है कि संत केवल संत होते हैं। परन्तु उन्होंने यदि जीवन जीने का कोई धन्धा अपनाया है तो वह पुनीत काम है। वैसे कृष्ण, ईसा और कबीर अपने जीवन की तरुणाई तक ही गाय चराने, लकड़ी छीलने तथा कपड़े बुनने का काम कर सके थे। इसके बाद तो वे संसार की सेवा में इस ढंग से लग गये थे कि अपने-अपने समय में लोकनायक हो गये थे। परन्तु यदि समयानुसार वे अपने पेशे के काम यदा-कदा जीवनभर करते रहे हों तो यह सोने में सुगन्ध ही है। कबीर-जैसे निर्गुणीधारा के संत परोपजीवी नहीं थे। उन्होंने कभी भिक्षा नहीं मांगी, किन्तु स्वयं श्रम से जीवन जीया और लोक-कल्याण किया। यह आज के साधुओं के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा है।

---

1 . महाभारत, सभापर्व, अध्याय 35, श्लोक 10 ।

2. टीका : रामगोविन्द त्रिवेदी । मूल मंत्र इस प्रकार है—
वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य ।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मात्रा शार्यपशः पुर ऋतोः ॥ ऋग्वेद 2/28/5 ॥

दिखावा छोड़कर सरल रहो

आज महात्मा लोगों में अपने नाम के आगे-पीछे लम्बे विशेषण लगाने की बड़ी भूख है। शास्त्री, आचार्य, महामंडलेश्वर, जगद्गुरु, प्रतिवादभयंकर, शास्त्रार्थमहारथी, तर्क पंचानन, विद्यावाचस्पति, विद्यावागीश, विद्यावारिधि, साहित्यालंकार तथा और नये-नये विशेषण आविष्कृत कर लिये गये हैं जिन्हें अपनी कलम से अपने नाम के आगे-पीछे जोड़ते हैं। परन्तु आप पहले के ऋषियों तथा संतों को देखिए नारद, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव आदि सादे नाम हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब को देखिए तो वे अपनी पूरी वाणी में अपना नाम सादा 'कबीर' बोलते हैं। यदि कहीं विशेषण आता है तो कबीर के साथ केवल 'दास' है। इसके अलावा कुछ नहीं। अतः अपनी लेखनी से अपने हस्ताक्षर तक में नाम के आगे-पीछे संत, महंत, साहेब, स्वामी, शास्त्री, आचार्य तथा और नामालूम क्या-क्या जोड़ना कहां तक उचित है!

कितने लोग तो अपने आप को आजकल 'दास' लिखने में लज्जा करने लगे हैं, इसलिए वे अपने नाम के साथ लगे 'दास' शब्द हटा देते हैं। वे सोचते हैं कि दास तो गुलामी का शब्द है। पहले दास-प्रथा थी, उसी से उपजा शब्द दास रखना ठीक नहीं है। परन्तु गुलाम दास और संतों-भक्तों के नामों में लगे दास से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वैदिक महापुरुषों में भी यदा-कदा दास शब्द चलते थे। ऐसे ही वैदिक पुरुष हैं दिवोदास तथा सुदास। जिनके नाम से ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण ही है वे ऐतरेय महिदास थे जिनकी ब्रह्मचर्य के तेज से 116 वर्ष तक जीवित रहने के लिए प्रशंसा की गयी है।[1] कोई अपने आप को स्वामी या साहेब लिख ले तो वह मन-इन्द्रियों पर विजयी नहीं हो जाता, परन्तु जिसने अपने मन तथा इन्द्रियों पर विजय पायी है उसके नाम में कुछ भी विशेषण हो, वह स्वामी है।

कामरस छोड़कर रामरस में लीन होओ

हमें इस कहरा की आखिरी पंक्ति से सरलता और विनम्रता की आदर्श प्रेरणा मिलती है। कबीर साहेब का अपने आप को जुलाहा कहना उनकी सरलता तथा दास कहना उनकी विनम्रता है, और तीसरी बात जो उन्होंने इस पंक्ति में पहले ही कही है 'रामरस माते' उनके सारे कथनों का सार है। कबीर साहेब रामरस में निमग्न थे। यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। दो ही

---

1. छांदोय उपनिषद् 3/16/7।

रस हैं, एक कामरस और दूसरा रामरस। जो आदमी जितना कामरस में डूबता है वह उतना ही पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता है। उसका मन सदैव वासनाओं तथा इच्छाओं में तपता रहता है। वह अभाव की अनुभूति की भट्ठी में सदैव जलता रहता है और जो रामरस में डूबा रहता है वह सदैव शीतल, सुखी एवं आनंदमय रहता है। जीवन जीने का सर्वाधिक उत्तम तरीका है रामरस में सदैव निमग्न रहना। निज स्वरूप आत्माराम में लीनता ही रामरस में निमग्नता है।

इस कहरा में सद्गुरु ने शुरू की पंक्ति में ही सहज-ध्यान में रहने का आदेश दिया है। सहज अपना चेतनस्वरूप है। अपनी चेतना में स्थित रहना ही सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि है और यही अन्तिम पंक्ति की रामरस में मग्नता है।

सद्गुरु का प्रेम-बाण

कहरा-2

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो॥ 1॥
अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो॥ 2॥
नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो॥ 3॥
नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो॥ 4॥
राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो॥ 5॥
एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो॥ 6॥
आपन आपन झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो॥ 7॥
भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो॥ 8॥
गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो॥ 9॥
पंथी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो ॥ 10॥
घाट छोड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगबेहु तीरा हो॥ 11॥
जतइत के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो॥ 12॥
दुई चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठीक ठौरा हो॥ 13॥
प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो॥ 14॥
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो॥ 15॥

शब्दार्थ—मत=राय, सम्मति, विचार, सिद्धांत। मानिक=रत्न, माणिक्य, मनुष्य, चेतन। बन्द=बंधन। निवारहु=त्याग करो। अटपट=अटपटा, टेढ़ा,

ऊटपटांग, लड़खड़ाता हुआ। कुम्हरा=कुंभकार, मन। कुम्हरैया=घट बनाना। चमरा गांव=चाम का शरीर। कोरिया=हिन्दू जुलाहा, जुलाहा, कर्मी जीव। पेट भरतु है=जीवनयात्रा एवं जीविका में लगता है, पैंठ, बाजार। छिपिया=छीपी, छींटें छापने वाला, कपड़े पर छींटें छापने वाला, रंगरेज, मन। नौवा=विवेकहीन, मनरूपी नाविक। बेरहि=बारम्बार। बेरा=बेड़ा, नौका। राउर=अन्तःपुर, श्रेष्ठ, चेतन। एक गाँव=शरीर। पाँच तरुणि=पांच युवतियां; आंख, नाक, कान, जीभ, चाम ये पांच ज्ञानेन्द्रियां। जेठ=श्रेष्ठ, मन। जेठानी=बलवान, वासना। पिया=चेतन जीव। भैसिन=भैंसे, इन्द्रियां। बकुला=मन। तिकुला=ताकने योग्य, ध्यान देने योग्य स्वस्वरूप। गाइन=गायें, सात्त्विक पुरुष, संत। पद=पारखपद, निज चेतन-स्वरूप। पन्थी=मोक्षपथ के पथिक मुमुक्षु। पंथ=मोक्षपथ। घाट=पार उतरने की जगह। औघट=जहां से पार न उतरा जा सके। रेंगहु=रेंगना, चलना, भटकना। तीरा=किनारे, पार। जतइत=गेहूं आदि उत्तम अन्न पीसने का जांता, परलोक-सुख। कोदइत=कोदो आदि साधारण अन्न दलने का जांता, लौकिक सुख। चकरी=चक्की, जांता। दरर=दलना, पीसना, तृष्णा। ठीक ठौरा=स्थायी स्थिति। दीन्हों=मारा। गाढ़ो=ठस, खूब मजबूत। तीर=बाण। कमाना=कमान, धनुष। कहरा=यह पद, मुमुक्षुभाव। महरा=कहारों का प्रधान, तात्पर्य में निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे चेतन-रत्न मनुष्य! मेरे विचारों को सुनो, और अपने हृदय के बन्धनों का त्याग करो॥ 1॥ यह मनरूपी कुम्हार तो अटपटा कुम्हारपन करता है, अर्थात बारम्बार शरीर रूपी घट की रचना करता है, परन्तु यह चमड़े का गांव शरीर तो टिकता नहीं, थोड़े दिनों में नष्ट हो जाता है॥ 2॥ जैसे रोज सुबह उठकर जुलाहे जीवन-निर्वाह के लिए कपड़े बुनते तथा उन्हें ले जाकर बाजार में दुकान लगाते हैं और रंगरेज उनके कपड़े छापने के लिए उनके आंगन में बारम्बार आते हैं, वैसे कर्मी जीव नाना शुभाशुभ कर्म कर अपने हृदय-बाजार को कर्म-पट से भरते हैं और उन कर्म-पटों में नाना विषय-रंग भरने वाला मन-रंगरेज हृदय-आंगन में नाचता है॥ 3॥ रोज नींद से जागकर यह अविवेकी मनरूपी नाविक शरीर रूपी नाव पर तो सवार होता है, परन्तु वह इसे दिनभर बारम्बार विषय-नदी में डूबाता रहता है॥ 4॥ यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर को तथा इस शरीर में निवास करने वाले चेतन-सम्राट को जानता नहीं है, फिर वासनाओं का द्वंद्व कैसे दूर कर सकता है!॥ 5॥ इस शरीररूपी एक गांव में पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी युवतियां रहती हैं।

जिनमें मन तथा वासना महाबलवान एवं बलवती हैं॥ 6॥ ये सब अपने-अपने विषय-भोगों के लिए झगड़े में लगी हैं और प्रियतम पीव चेतनात्मा से प्रेम नष्ट कर दिये हैं॥ 7॥

जैसे बगले भैसों के शरीर के कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके दल में रहते हैं वैसे यह मलिन मन इन्द्रियों के साथ उनके भोगों को भोगने के लिए लगा रहता है। यह मलिन मन ध्यान देने योग्य आत्माराम पर लक्ष्य नहीं देता॥ 8॥ यह मन सत्पुरुषों एवं संतों की संगति में कभी बैठने को सोचता ही नहीं। फिर निज पारखपद एवं आत्माराम को कैसे पहचानेगा!॥ 9॥ जैसे कोई महामूढ़ एवं गंवार आदमी किसी जानकार से रास्ता पूछे बिना चलता हो, वैसे यह मूढ़ तथा अहंकारी मानव जीवन के पथ में बिना गुरुजनों से पूछे ही चलता है॥ 10॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम घाट छोड़कर कुघाट में क्यों भटक रहे हो? तुम कैसे पार जा सकोगे?॥ 11॥ मनुष्य का मन पारलौकिक सुखों के लिए ललचाता है इसलिए क्षण में उसी धन की खोज में पड़ जाता है। इतने में उसका मन लौकिक सुखों को पाने के लिए दौड़ने लगता है॥ 12॥ सद्गुरु कहते हैं कि इन दो चक्कियों के बीच में अपने मन को पीसकर तृष्णा मत फैलाओ, तभी स्थायी शांति पा सकोगे॥ 13॥ सद्गुरु ने मजबूत तीर-कमान से एक प्रेम-बाण मुझे मारा है॥ 14॥ अतएव उससे आहत विनम्र कबीर ने यह कहरा गाया है और अपने आत्माराम में लीन हो गया है॥ 15॥

व्याख्या—"मत सुनु मानिक मन सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो।" सद्गुरु इस पंक्ति में मनुष्य को मानिक कहते हैं। गुलाबी या लाल रंग का एक रत्न होता है उसे माणिक्य कहते हैं। इसी का सरलीकरण कर मानिक शब्द कहा जाता है। संसार में जितने मणि-माणिक्य हैं सब जड़-पत्थर हैं। मनुष्य-जैसा माणिक होना ही असंभव है। यदि मनुष्य न होता तो मणि-माणिक्य की परख एवं उनका मूल्यांकन कौन करता! मनुष्य चेतन है, इसलिए वह सर्वोच्च मणि-माणिक्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे नर-रत्न! तू मेरे मत को सुन! मत का अर्थ है विचार, ज्ञान की बातें। कबीर साहेब का कोई ऐसा मत नहीं है जो किसी तथाकथित ईश्वर, अवतार तथा पैगम्बर के संदेश का मतवाद एवं सांप्रदायिकता हो। उनका मत तो सार्वभौमिक सत्य है। वे कहते हैं कि हे नर-रत्न! तुम अपने हृदय के बंधनों को दूर कर दो, मन की गुलामी की जंजीर तोड़कर फेंक दो। तुम रत्न हो, सर्वोच्च हो, परन्तु तुम मन की मलिनता में फंस गये हो। तुम्हारा मन तुच्छ विषयों का गुलाम हो

गया है। इस गुलामी का परिणाम यह हुआ है कि तुम मूलतः महत्तम होकर भी दीन बन गये हो। विषयासक्तिवश तुममें इतनी कायरता पैदा हो गयी है कि तुम्हें यह अनुभव ही नहीं होता है कि तुम विषय-बन्धनों से अलग हो। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि मैं तुम्हें याद दिलाता हूं कि तुम महान हो। तुम अपने स्वरूप की याद करो। मन को सारी विषयासक्ति के बन्धनों से उन्मुक्त करो, फिर तो देखोगे तुम्हारे जीवन में केवल आनन्द-आनन्द रहेगा।

"अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो।" यह मन अटपटा कुम्हार है। इसका कुम्हारपन भी ऊटपटांग ही है। यह नाना आशा के महल बनाता है जो क्षणमात्र में भहरा जाता है। अथवा इसके संस्कारों से ही तो इस शरीररूपी घड़े का निर्माण होता है। परन्तु यह चमड़े का गांव-शरीर बचता नहीं है। यह थोड़े दिनों में जल जाता है, गल जाता है तथा जन्तुओं का आहार हो जाता है। यह विषय-बंधनों में डूबा मन ही मानो शरीर का बारम्बार निर्माण करता है, जो निर्माण के साथ ही विनाश के मुख में जाने लगता है।

"नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो।" जुलाहे अपने पेट-धंधा में रोज उठकर कपड़ों से बाजार भरते हैं। पेट यहाँ पैंठ भी माना जा सकता है। जो बाजार के लिए प्रयुक्त होता है। जुलाहे रोज बाजार में कपड़े की दुकान लगाते हैं और रंगरेज उनके आंगन में जा-जाकर उनके कपड़े रंगने का काम करते हैं। यह कर्मी जीव शुभाशुभ कर्मरूपी वस्त्र बुनता है और रोज अपने हृदय-बाजार में उसे भरता है। मन रंगरेज है, छीपी है, कर्म-वस्त्र पर भाव के रंग छापने वाला है। यह मन-छीपी, यह मन-रंगरेज नित्य जीव के हृदय-आंगन में नाचता रहता है और अनेक भावनाओं के रंग कर्म-वस्त्रों पर छापता रहता है। इस प्रकार जीव सांसारिक कर्म और वासनाओं के जाल में उलझा रहता है।

"नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो।" यह मन नाविक भी है। यह रोज सुबह उठकर शरीररूपी नौका पर सवार होता है, परन्तु दुख यह है कि इसे बारम्बार विषय-वासनाओं की नदी में डुबाता रहता है। नाविक ऐसा मूर्ख हो जो नौका खेना न जानता हो और नौका चलाता हो, तो वह उसे डुबायेगा ही। यह मन-नाविक ऐसा ही है। यह नींद खुलते ही रोज शरीर-नौका को चलाना शुरू करता है, परन्तु जब तक यह जागता है, असंख्य बार इस नौका को विषयों की नदी में डुबाता रहता है। आपकी सुबह जब नींद खुले तब से जब पुनः रात में सोने चलें, तब तक मन की सारी घटनाओं एवं

गतिविधियों को एक कागज पर लिखते जाइये, तो देखिएगा कि दिन में आपके मन ने कितनी बार आपकी नौका को भवसागर में डुबाया है। यह तो आत्मनिरीक्षण का विषय है। दूसरों की बुराइयों की आलोचना करने में क्या लगता है! परन्तु जो अपनी बुराइयों को देखता है उसकी आंखें दूसरों की बुराइयों की तरफ से बंद हो जाती हैं। यदि हम हर क्षण अपने मन को देखें तो दूसरों के दोषों को उछालना बंद कर देंगे, और यदि हम पूर्ण शुद्ध मन के हो जायें तो दूसरों के कूड़ा-कचड़ा को अपने मन में स्थान ही नहीं देंगे। सद्गुरु कहते हैं कि मन-नाविक ऐसा ऊटपटांग है कि हर समय नौका को भवसागर में डुबाता रहता है।

"राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो।" पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में राउ, राउर, रउआं आदि शब्द आदर-सूचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। राउ तथा रउआं तो केवल आदर-सूचक हैं जिनका अर्थ राजा होता है। राउर भी श्रेष्ठभाव सूचक है। वैसे 'राउर' शब्द राजाओं के अन्तःपुर एवं जनानखाना के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे गोस्वामी जी ने लिखा है 'गे सुमंत तब राउर माहीं।' अर्थात तब सुमंत राजा के अन्तःपुर में गये। यहां राउर[1] का (राज+पुर, राऊ+पुर) अन्तःपुर अर्थ है तथा श्रेष्ठ भी अर्थ है। सद्गुरु कहते हैं कि यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की कोई खबर नहीं जानता है कि वहां क्या-क्या हो रहा है तब उसमें होते हुए द्वन्द्व को वह कैसे मिटा सकता है! अथवा हृदय-निवासी, चेतन-सम्राट का उसे बोध नहीं है तो वह कैसे भवपार होगा! इस पंक्ति में राउर के अर्थ—अन्तःपुर तथा सम्राट-चेतन, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। हम पहले अन्तःपुर वाले अर्थ को लें। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की खबर नहीं है कि उसमें क्षण-क्षण क्या हो रहा है, तो तुम्हारे मन का झगड़ा कैसे मिट सकता है! जो अपने हृदय की गतिविधि को नहीं देख पाता वह हृदय की उलझनों को कैसे सुलझा सकता है! साधक वही है जो अपने हृदय को, अपने अन्तःपुर को सदैव देखता रहता है, और जो अपने हृदय को देखता रहता है उसका मन सुलझ जाता है। राउर का दूसरा अर्थ चेतन-सम्राट है। जिसे यह बोध नहीं है कि इस शरीर में विद्यमान चेतन-सम्राट ही निजस्वरूप है, वह सदैव अकिंचन बना भटकता रहता है।

"एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो। आपन आपन

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो।" यह शरीर एक गांव है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी पांच युवतियां बसती हैं। ये बड़ी बलवान हैं। परन्तु इनमें भी जेष्ठ-श्रेष्ठ मन है तथा एक जेठानी अति बलवान वासना है। ये सब अपने-अपने विषयों के भोग के लिए उन्मादी हैं। ये अपने-अपने भोगों के लिए झगड़ते रहते हैं। इस झगड़े में पड़कर इन युवतियों ने अपने चेतन-पति का प्रेम नष्ट कर दिया है। इन्द्रिय और वासनाओं की बलवत्ता का अनुभव सबको है। यदि इनसे साधक सावधान न रहे तो इनके चक्कर में पड़कर वह कब भूल जायेगा इसका ठिकाना नहीं है। मनुष्य का मन इन्द्रियों के भोगों में जितना डूबता है उतना स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से विमुख होता है। आदमी विषयरस ले या रामरस ले, दोनों में एक ही हो सकता है। एक काल में दोनों रस का एक साथ अनुभव कर पाना असंभव है। विषयरस मनुष्य को क्षीण करता है तथा रामरस बलवान बनाता है। विषयरस मलिनतापूर्ण है, रामरस स्वच्छ है। विषयरस का परिणाम भय, दुख एवं पीड़ा-पर-पीड़ा है और रामरस का परिणाम निर्भयता, सुख एवं आनन्द-आनन्द है।

"भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो।" बगले-पक्षी भैंसों के बीच में रहते हैं। जब भैंस-भैंसे मैदान में चरते हैं तब बगले उनके शरीर में लगे कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके आगे-पीछे सिर पर, धड़ पर, पूंछ पर तथा अन्य अंगों पर बैठते हैं। मन की दशा यही है। यह मलिन मन इन्द्रियों के गंदे विषयों के साथ लगा रहता है, क्योंकि इसे गंदगी ही पसंद है। यह तो जब व्यक्ति की सही समझ होगी और वह अपनी साधना से बगले-मन को हंस बना देगा तब मन इन्द्रिय-विषयों का साथ छोड़कर ज्ञान के मोती चुगने लगेगा। साहेब कहते हैं कि मनुष्य का मन तो बगला बना है। वह सदैव इन्द्रियों की मलिनताओं में ही डूबा रहता है, इसलिए ध्यान योग्य आत्माराम में लीन नहीं होता।

"गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो।" हम सात्त्विकों, सज्जनों एवं सन्तों के पास बसते ही नहीं हैं तो अपने पद को कैसे पहचानेंगे! हम विषयों के चिन्तन एवं भोगों में क्यों डूबे हैं? क्योंकि हमें अपने पद का, अपने स्वरूप का एवं अपने आपा का ख्याल नहीं है; उसकी पहचान एवं परख नहीं है। पहचान इसलिए नहीं है, क्योंकि हम सत्संग नहीं करते। बिना सत्संग के किसी का जीवन बदल नहीं सकता। देख-सुनकर रंग चढ़ता है। गलत संगत से मन गलत की तरफ जाता है तथा सही संगत से मन सही की तरफ जाता है। जब तक हम अच्छी संगत नहीं करेंगे; भक्तों,

सज्जनों एवं संतों के पास नहीं बैठेंगे, सद्ग्रन्थ नहीं पढ़ेंगे, तब तक हमें अपने स्वरूप की याद, पहचान एवं परख कैसे होगी!

"पन्थी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो। घाट छोड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" यदि पथिक अपना पथ जानकारों से पूछकर नहीं चलता, बिना विचारे ही चल देता है तो वह केवल मूढ़, गंवार तथा अहंकारी है। वह विपथगामी होने से घाट पर न पहुंचकर कुघाट पर पहुँच जायेगा, इसलिए नदी पार नहीं जा सकता। कितने साधक ऐसे होते हैं जो अहंकारी होते हैं। वे किसी से कोई बात इसलिए नहीं पूछते कि उनको पूज्य मानना पड़ेगा। वे जो दूसरों से ज्ञान पाये भी रहेंगे उसे ऐसा प्रकट करेंगे कि जिससे लोग समझें कि यह इनका अपना अनुभव है। इन्होंने इसे किसी दूसरे से नहीं सीखा है। दूसरे को गुरु न मानना पड़े, उपासना, सेवा तथा विनम्रता का बरताव न करना पड़े, इस लक्ष्य से ऐसे लोग अपने आप को सबसे बचाते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग केवल मूढ़ हैं। "मूढ़हि मूढ़" का अर्थ होता है मूढ़-ही-मूढ़ अर्थात केवल मूढ़ और इतना ही नहीं, वे गंवार भी हैं। गंवार का अर्थ केवल गांव में रहने वाला नहीं होता है। गांव में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो बहुत सुसभ्य एवं शीलवान हैं और शहर में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो मूढ़ तथा उजड्ड हैं। इसी प्रकार शिक्षित-अशिक्षित की भी बात है। कितने शिक्षित कहे जाने वाले मूढ़, उजड्ड, छल-कपट से भरे हुए हैं और कितने अशिक्षित कहे जाने वाले बुद्धिमान, सुसभ्य एवं निष्कपट हैं। गंवार का अर्थ केवल गांव में रहने वाला करना ठीक नहीं है। यहां गंवार का अर्थ है मूर्ख, अनाड़ी एवं उजड्ड। जो व्यक्ति सज्जनों एवं संतों से विनयावनत होकर सच्ची सीख नहीं ग्रहण करता है वह मूढ़ है, अनाड़ी है, उजड्ड है तथा अहंकारी है। ऐसे आदमी का ज्ञान सही नहीं होता है और न उसका व्यक्तित्व ही अच्छा निर्मित होता है। किसी भी दिशा के ज्ञान के लिए तत्संबंधी सच्चे अनुभवी गुरु से सीख ग्रहण करने की महती आवश्यकता होती है। इसके लिए उसकी विनम्रतापूर्वक सेवा करना चाहिए तथा विनम्र होकर ज्ञान की बातें पूछना चाहिए। अपने आप को ज्ञानी जताते हुए प्रश्न करना अपना अनाड़ीपन सिद्ध करना है। जो साधक गुरुजनों की विनम्रतापूर्वक शरण लिये बिना, सेवा किये बिना तथा उनसे सच्चा रास्ता जाने बिना चलता है वह मूढ़ है और उसे भटकना निश्चित है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग घाट छोड़कर कुघाट में भटकते हैं। गलत रास्ते पर जाने से आदमी कुघाट पर पहुंच जाता है और कुघाट से नदी को उतरा नहीं जा

सकता। सुघाट से ही उतरा जा सकता है।

"जतइन के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।" जांते में गेहूं आदि उत्तम अन्न पीसे जाते हैं और कोदइत में कोदौ आदि साधारण अन्न पीसे जाते हैं। अतएव जतइत का धन सुने हुए परलोक के सुख हैं तथा कोदइत का धन इस लोक के सुख हैं। सद्गुरु कहते हैं कि श्रुति एवं नाना मतों के पुराणों में मनुष्य परलोक के एवं स्वर्ग के सुखों का बड़ा आकर्षक रूप पढ़ते तथा सुनते हैं। इसलिए उनके मन में उन सुखों के लिए लालच पैदा होता है, और उन्हीं की खोज में वे पड़े रहते हैं। इधर इस लोक के भी विषय-सुखों को देखकर इधर भी उनका मन दौड़ता है। इस प्रकार संसारी मनुष्यों का मन लोक-परलोक के विषय-सुखों के लए ललचाता तथा दौड़ता रहता है। सद्गुरु कहते हैं—"दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहौ ठीक ठौरा हो।" अर्थात इन दोनों जांतों में अपने मन को मत पीसो, तभी ठीक ठौर पाओगे। मनुष्य अपने मन को लोक तथा परलोक के कल्पित सुखों के जांते में पीसता है। अर्थात उसका मन सदैव लोक के सुखों के स्मरणों में पिसता है या कल्पित स्वर्गादि के सुखों के स्मरणों में पिसता है। हर हालत में मनुष्य का मन विषयों में डूबा रहता है वह चाहे लोक के हों या परलोक के। साहेब कहते हैं तब तुम लोक और परलोक के विषय-सुखों से अपने मन को एकदम छुड़ा लोगे तभी ठीक ठौर पाओगे। ठीक ठौर क्या है? वस्तुतः ठीक ठौर वह है जहां से कोई उठा न सके। जो आदमी किसी सभा में जाकर गलत जगह बैठता है, वह वहां से उठा दिया जा सकता है, परन्तु जो अपनी उपयुक्त जगह पर बैठता है उसे कोई नहीं उठाता। लोक-परलोक और सारे विषय-सुख तुम्हारे लिए उपयुक्त जगह नहीं हैं। वे तुम्हारे ठीक ठौर नहीं हैं। वहां तुम्हें स्थायी निवास मिल ही नहीं सकता। इसलिए जब तुम लोक-परलोक के सारे सुखों की तृष्णा छोड़ दोगे, तब तुम्हारा मन अपनी अंतरात्मा में लीन हो जायेगा और तब तुम्हें मानो ठीक ठौर मिल गया। लोक-परलोक के सारे सुख क्षणभंगुर तथा छूटने वाले हैं, फिर उनमें स्थायित्व कहां मिल सकता है! परन्तु तुम्हारी आत्मा तुमसे कभी नहीं छूट सकती, इसलिए तुम अपनी आत्मा में ही स्थायी ठौर पा सकते हो। जब तक लोक-परलोक के माने हुए विषय-सुखों की वासना नहीं छूटेगी तब तक मन अंतरात्मा में स्थित नहीं होगा और तब तक तुम्हें स्थायी स्थिति नहीं मिलेगी। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे शांति-इच्छुक! लोक-परलोक के मिथ्या सुखों की तृष्णा एवं वासना का त्याग करो तब तुम स्थायी शांति एवं स्थिति पाओगे। अनन्त सुख पाने के

लिए तुच्छ सुख छोड़ना पड़ेगा और दिव्य स्थिति पाने के लिए मलिन स्थिति से ऊपर उठना पड़ेगा।

"प्रेम बाण एक सद्गुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो।" सद्गुरु के तीर-कमान बड़े मजबूत हैं। उन्होंने मेरे हृदय में अपना प्रेम-बाण ऐसे जोर से मारा है कि वह अब इस जीवन में निकलने वाला नहीं है। संसार का प्रेम तो थोथा है, और इसका फल भी सांसारिकता तक है तथा बंधनप्रद भी; परन्तु सद्गुरु का प्रेम तो उच्चतम है। उनके प्रेम के लपेट में आने वाले व्यक्ति भव-बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु के प्रेम का फल अनन्त शांति है। सद्गुरु अपना प्रेम-बाण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पर चलाते हैं और वह जिसको लग जाता है वह संसार के लिए बेकाम हो जाता है। बाण यदि हृदय में लग जाये तो आदमी मर जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु का प्रेम-बाण जिसके हृदय में लग जाता है वह संसार से मर जाता है। वह संसार के लिए बेकार हो जाता है। परन्तु ध्यान रहे, वह संसार के लिए वरदानस्वरूप होता है। संसार के लोग मानसिक तापों में तपते हैं। संसार से बेकाम हुए संत तो शीतल हो जाते हैं। वे लोगों को शीतलता देने वाले जगत-त्राता होते हैं। संसार से बेकाम होने का मतलब यह है कि वे संसार के भोगों से विरत हो जाते हैं। परन्तु जो संसार के भोगों से विरत हो जाता है वह संसार के लिए कल्याणकारक हो जाता है। भोगी संसार को कष्ट देता है और त्यागी संसार को सुख देता है।

"दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो।" कहरा और महरा ये दो शब्द इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम कहरा की व्याख्या की शुरुआत में ही बताया गया है कि कहरा नाम की एक जाति होती है, उसके गाये गीत को भी कहरा या कहरवा कहते हैं और उसके नाच को कहरा या कहरवा कहते हैं। कहरा का अर्थ अरबी भाषा के कह्र से भी लिया जा सकता है जिसका तात्पर्य होता है बला, आफत एवं जुल्म। पहले वाले अर्थ में होगा कि विनम्र कबीर ने यह कहरा-पद रचा है, अथवा इस पद के भाव को हृदयंगम किया है और वह महरा में समा गया है। व्यक्तिवाचक कहरा को ही महरा कहते हैं। हां, कहीं-कहीं महरा उसे कहते हैं जो कहरा में श्रेष्ठ होता है। अतएव यहां कहरा साधारण दशा है तथा महरा शुद्ध दशा है। सार अर्थ हुआ कि कबीर कहरा की स्थिति बताकर महरा में लीन हो गये। अर्थात उन्होंने मनुष्य के बन्धन, उसके मन, कर्म-इन्द्रियों की विवशता, मूढ़ता, लोक-परलोक की वासना आदि का परिचय दिया और लोगों को बताया कि सारे बन्धनों को छोड़कर मुक्त हो रहो और स्वयं अपनी आत्मा में लीन हो गये।

ध्यान रहे, कहरा से महरा अलग नहीं होता। कहारों में जो बुद्धि तथा अवस्था में श्रेष्ठ हो जाता है उसे महरा कहा जाता है। इसी प्रकार जीव से शिव अथवा पारख पृथक नहीं है, किन्तु वही जीव जब अपने स्वरूप को पहचानकर सारी विषय-वासनाओं का त्याग कर देता है तब शिव हो जाता है, पारख हो जाता है एवं कृतार्थ हो जाता है। अतएव बुजुर्ग कहरा ही महरा है और शुद्ध जीव ही शिव है।

यदि कहरा कह्न के रूप में मानकर उसका अर्थ जुल्म माना जाये तो अर्थ होगा कि जब कबीर पर सद्गुरु का प्रेम-बाण लगा तब मानो एक जुल्म हो गया और वह संसार के सारे मोह को छोड़कर निजस्वरूप में लीन हो गया। किसी के सीने में बाण लग जाये तो उसके ऊपर मानो कहर, विपत्ति एवं बला ही है। इसी प्रकार जिसके हृदय में सद्गुरु का प्रेम-बाण लग जाता है उसके ऊपर मानो जुल्म हो जाता है या वह स्वयं जुल्म कर बैठता है। वह सारे संसार का राग छोड़ देता है। वह काम से विमुख होकर राम में लीन हो जाता है। संसार के लोग इसे जुल्म मानते हैं। परन्तु ऐसा जुल्म ही साधक के लिए पुण्य का काम है। संसार की त्यागरूपी विपत्ति ही साधक की परम सम्पत्ति है।

तुम्हारी अंतरात्मा ही राम है और वासना-त्याग ही पूजा है

कहरा-3

राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो॥ 1॥
और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो॥ 2॥
ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो॥ 3॥
तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो॥ 4॥
मुख के दाँत गये कहा भौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो॥ 5॥
फिर फिर चना चबाय विषय के, काम क्रोध मद लोभ के हो॥ 6॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, सकल सयाना पहुँना हो॥ 8॥

शब्दार्थ—बीरा=शूर-वीर, शक्तिशाली चेतन। और=अन्य, दूसरे। बौरे=पागल, भोला। कारो=काला, मलिनता। बारो=बालक। संज्ञा=चेतना, बोध, ज्ञान, होश। दिलासा=आश्वासन, सांत्वना, धीरज, यहां का अर्थ है उमंग। सयाना=बुद्धिमान, चालाक।

भावार्थ—हे विवेक-वीरो! जीभ से राम-राम क्या रट रहे हो! राम तुमसे दूर नहीं है। तुम्हारी दुराशा ने ही उसे दूर कर दिया है॥ 1॥ हे पगले,

राम को छोड़कर दूसरे देवताओं को क्या पूजता है? उनसे कल्याण की आशा करना व्यर्थ है॥ 3॥ हे भोले! ऊपर से उजले कपड़े पहनने से या बाल उजले होने से क्या हुआ यदि आज भी भीतर में मैल भरा है॥ 3॥ हे पगले! मात्र शरीर बूढ़ा होने से क्या होता है यदि मन आज भी बालक बना बांसों उछल रहा है॥ 4॥ हे गंवार! मुख के दांत उखड़ जाने से क्या हुआ जब भीतर तृष्णा के लोहे-जैसे मजबूत दांत लगे हैं, और उनसे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विषय के चने बारम्बार चबाये जाते हैं॥ 5-6॥ शरीर अत्यन्त वृद्ध होने से उसके सारे अंगों की चेतना बहुत कम हो गयी, परन्तु मन की उमंगें दुगुनी बढ़ गयी हैं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सभी बुद्धिमान इस संसार में दो दिन के पहुने हैं॥ 8॥

व्याख्या—कबीर साहेब अज्ञान के हर पहलू पर चोट करते हैं। इस कहरा में उनके द्वारा अज्ञान के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह राम को अपने से अलग मानकर उसे पुकार रहा है। यहां राम का अर्थ परमतत्त्व है जिसके ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, अल्लाह, गॉड आदि बीसियों पर्यायवाची शब्द गिनाये जा सकते हैं। लोग राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्लाह-अल्लाह रटे जा रहे हैं। मालूम होता है कि वह कहीं सातवें आसमान पर बैठा है, और उसे पुकार-पुकारकर यह जताया जा रहा है कि हम तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हें चाहते हैं, तुम आकर हमें दर्शन दो और ले चलो हमें अपने धाम! परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। साहेब इस कहरा में पहली पंक्ति में कहते हैं "राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो।" हे वीरो! राम-नाम क्या रटते हो! वह तुमसे दूर नहीं है, केवल तुमने मान लिया है कि वह दूर है। वस्तुतः मनुष्य की आत्मा से अलग कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमतत्त्व हो। इसलिए मनुष्य को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं है। पुकारने से कुछ मिलने वाला नहीं है। क्योंकि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई कुछ देने वाला नहीं है। यह बात अलग है कि जब मनुष्य कोई पवित्र नाम लेता है तब उसका मन उसी में लगा होने से दुष्प्रवृत्तियां उस समय हट जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन एक समय में एक ही भाव को ग्रहण कर सकता है। यदि मन में काम है तो उस समय क्रोध नहीं रह सकता और यदि क्रोध है तो काम नहीं रह सकता, जबकि ये एक दूसरे के सहयोगी हैं। कोई एक मनोभाव रहने से दूसरा नहीं रहता। ध्यान रहे! किसी नाम या मंत्र जप से आपका मनोभाव कुछ समय के लिए शुद्ध हो सकता है, परन्तु यह मत समझना कि तुम जब किसी का नाम जपते हो तब वह सुनता है और

तुम्हारा सहयोग करने आयेगा। न कोई सुनने वाला है और न सहयोग करने वाला है। हां, मनुष्य एक दूसरे की बात सुनने वाला तथा सहयोग करने वाला अवश्य है। इसके अलावा कोई नहीं है।

"राम नाम का सेवहु बीरा।" में बीरा शब्द ध्यातव्य है। कबीर साहेब के अनुसार जीव इतना शूर-वीर है कि उसे कल्पित राम से अथवा अन्य देवों से कल्याण व सांसारिक उपलब्धि हेतु आराधना करना आवश्यक नहीं है। साहेब कहते हैं कि तुम राम-राम क्या रटते हो! राम तुमसे अलग है ही नहीं। तुम्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, इसलिए तुमने राम को अपनी आत्मा से अलग मान रखा है। जब तुमने भ्रमवश उसे मान लिया तब तुम उससे मिलने की आशा में नाम रटने में डट गये। अतएव रटना छोड़ो। अपनी अंतरात्मा को पहचानो। यही राम है, यही रहीम है, यही ब्रह्म है, यही परमात्मा है। वासना छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमो।

"और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो।" साहेब कहते हैं कि राम को छोड़कर दूसरे देवताओं की सेवा-पूजा क्या करता है, यह सब झूठी आशा है। मनुष्यों ने देवी-देवताओं की फौज बना ली है। उनके मिट्टी, पत्थर, धातु आदि के पुतले बना लिये हैं। वे उन्हें पूजते हैं। उनको आशा है कि वे ऋद्धि-सिद्धि तथा मोक्ष देंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब तुम्हारी आशाएं झूठी हैं। आत्माराम के अलावा सारे देवी-देवता कपोल-कल्पित एवं झूठे हैं। उनकी सेवा-पूजा करने से कुछ होने-जाने वाला नहीं है। सब देवों का देव आत्मदेव है। आत्मदेव ने ही सारे देवी-देवताओं का सृजन किया है। इसलिए यही सर्वोपरि देवता है।

"ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो।" यदि मन मैला है तो उजले, सुसभ्य एवं साधु-संन्यासी के वेष पहनकर क्या होगा! ठीक है, बाहर के वेष स्वच्छ रखो, परन्तु मन उससे भी स्वच्छ रखो। मन की पवित्रता ही श्रेष्ठ पवित्रता है। कपड़े कभी थोड़े मैले ही रह गये तो वे क्षम्य हैं, परन्तु तुम्हारा मन हर समय एकदम स्वच्छ रहना चाहिए। मन की स्वच्छता ही जीवन की सफलता एवं सुख का साधन है।

संसार में कितने ढोंगी होते हैं वे वेष बड़ा सुसभ्य एवं साधु का बनाते हैं, परन्तु उनके अन्तर में कपट-कतरनी होती है। ऐसे लोग पहले तो अपने आप को छलते हैं, पीछे दूसरे को छलते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मन की पवित्रता ही श्रेष्ठ पवित्रता है।

अथवा शरीर के ऊपर बाल तो उजले हो गये, परन्तु भीतर मन काला एवं

मैला बना है तो क्या लाभ हुआ! बाल काले रहें या उजले, मन उजला होना चाहिए।

"तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो।" शरीर के बूढ़ा होने से क्या होता है यदि मन बालक बना हुआ है। कितने लोग ऐसे हैं कि उनके शरीर तो बूढ़े हो गये हैं, परन्तु उनका मन बालक बना हुआ है। जैसे बालक थोड़ी-थोड़ी बातों एवं छोटी-छोटी चीजों के लिए मचलता रहता है वैसे यदि बूढ़ा होने पर भी नाना प्रकार की जीभ-चटोरी आदतें, देखने, सुनने एवं भोगने की लालसाएं बनी हैं और उन सबके लिए मन मचलता रहता है तो शरीर बूढ़ा होने से क्या फल हुआ! वस्तुतः जैसे-जैसे हमारा शरीर बूढ़ा होता जाये, वैसे-वैसे हमारा मन भी बूढ़ा होते जाना चाहिए। यदि शरीर बूढ़ा हुआ और मन बच्चा बना हुआ है तो बुढ़ापा दुखद होता है, परन्तु यदि शरीर के साथ मन भी वृद्ध एवं परिपक्व हुआ तो बुढ़ापा अमृत है।

व्यापार में यदि निरन्तर घाटा हो तो उसकी असफलता है। इसी प्रकार जीवन में यदि निरन्तर अशांति बढ़ती जाये तो यह जीवन-व्यापार का घाटा है। व्यापार में निरन्तर धन की बढ़ोत्तरी व्यापार की सफलता है, इसी प्रकार जीवन में निरन्तर मन का शांत, स्ववश एवं संतुष्ट होते जाना जीवन की सफलता है। यह तभी होता है जब इसके लिए पहले से सावधानी रखी जाती है। मन, वाणी तथा इन्द्रियों पर संयम, घर तथा बाहर के उन सभी मनुष्यों से सुन्दर व्यवहार जिनसे हमें दैनिक जीवन में सम्बन्ध पड़ता है। ऐसी पवित्र रहनी से व्यक्ति का मन मक्खन बनता जाता है और उसका शरीर जितना बूढ़ा होता है उतना ही उसका मन भी वृद्ध एवं समझदार होता है। जैसे कच्चे आम की अपेक्षा पके आम भले ही पीले तथा सिकन भरे हों, परन्तु वे मीठे तथा मूल्यवान हो जाते हैं, वैसे साधनासम्पन्न व्यक्ति का शरीर बूढ़ा होने के साथ उसका मन भी मीठा होता जाता है। सबका अभिप्राय यही है कि हमारे शरीर के वृद्ध होने के साथ मन भी वृद्ध, समझदार, अनुभवी एवं संतुष्ट होते जाना चाहिए तभी जीवन की सफलता है।

"मुख के दाँत गये कहा भौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो।" मुख के दांत उखड़ गये, परन्तु मन में तृष्णा के लोहे-जैसे मजबूत दांत लगे हैं और उनसे कामादि विषयों के चने चबाते रहते हैं। कितने लोगों के दांत उखड़ जाने पर वे सुपारी पत्थर पर कूटकर खाते हैं, क्योंकि भीतर तृष्णा के दांत बने हैं। हमारे तृष्णा के दांत उखड़ने चाहिए। केवल वृद्ध हो जाने से आदमी शांतात्मा नहीं होता, किन्तु तृष्णा के त्याग से शांतात्मा होता है।

"तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो।" शरीर के सारे अंग शिथिल हो गये हैं, परन्तु मन की उमंगें बांसों उछल रही हैं तो शरीर की शिथिलता मात्र से शांति नहीं मिलती। कितने लोग ऐसे हैं जिनके पैर डगमगाते हैं, हाथ काम नहीं करते, आंख-कान तो पहले ही जवाब दे दिये हैं। दिमाग काम नहीं करता। पास की धरी वस्तुएं भूल जाती हैं। अर्थात शरीर के हर अंग शिथिल हो गये हैं, परन्तु उनका मन ताजा-तवाना बना है, तृष्णा तरंगें मार रही हैं। तो यह अधिक दुखद है। जवानी में तो मनुष्य कुछ-न-कुछ इच्छानुसार भोग भी कर लेता है, परन्तु बुढ़ापा में भोग कुछ भी नहीं कर सकता, केवल मन की तृष्णा ही परेशान करती है। इसलिए शरीर शिथिल होते जाने के साथ इच्छाएं एवं तृष्णाएं भी समाप्त होती जानी चाहिए, तभी जीवन में शांति है। इच्छाएं एवं तृष्णाएं तो जितना शीघ्र हो निवृत्त हो जानी चाहिए, परन्तु बुढ़ापा आने पर तो उनका त्याग होना ही चाहिए।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, सकल सयाना पहुँना हो।" सद्गुरु कहते हैं कि संसार के लोग सांसारिक भोगों में तथा उनके संग्रह में बहुत ज्यादा बुद्धिमानी दिखाते हैं, परन्तु इन्हें यह होश-हवास नहीं है कि ये संसार में केवल चार दिन के पहुने हैं। भोग तथा भोग-संग्रह में अपनी बुद्धिमानी दिखाने वाले और छल-कपट एवं बलात करके दूसरों के संग्रह पर हाथ साफ करने वाले अपने पापों की गठरी लादकर चले गये, परन्तु उनके साथ संग्रहीत धन में एक कौड़ी भी नहीं गयी। सद्गुरु ने साखी-ग्रंथ में कहा है—"हम जानी ये खायंगे, बहुत जिमी बहु माल। ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकरि ले गया काल।"

सद्गुरु ने इस पूरे कहरा में यह बताया है कि राम को बाहर मत पुकारो। तुम्हारी अन्तरात्मा ही राम है, परमात्मा है, इससे अलग देवी-देवता व्यर्थ हैं। उनके चक्कर में पड़ो मत। बस, जीवन के पवित्र आचरण ही मानो पूजा-पाठ हैं। केवल बाहर के उज्ज्वल वेष और शरीर की वृद्धता आत्मशांति में सहायक नहीं होंगे। इसके लिए इन्द्रियों तथा मन के विषयों एवं तृष्णाओं का त्याग होना चाहिए।

मन की अवधारणा में मत अटको

कहरा-4

ओढ़न मोरा राम नाम, मैं रामहि का बनजारा हो॥ 1॥
राम नाम का करहु बनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो॥ 2॥
सहस्त्र नाम का करों पसारा, दिन दिन होत सवाई हो॥ 3॥

जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो॥ 4॥
कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो॥ 5॥
सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई॥ 7॥

शब्दार्थ—ओढ़न=ठंडी-गरमी निवारण के लिए ओढ़ना, रक्षक। बनजारा=व्यापारी। हटवाई=दुकानदारी। पसारा=फैलाव, प्रचार। देव=त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव। कानि तराजू=पसंगेदार तराजू, गलत तराजू, असंतुलित बुद्धि। तुकिनी=तुक दिया, कह दिया, कान में नाम सुना दिया। पासंग=तराजू का टेढ़ापन, बुद्धि का असंतुलन। जोर=हठकर। जहँड़ाई=ठगाना, गंवाना, हानि उठाना।

भावार्थ—नामोपासक कहता है कि राम-नाम जप ही मानो मेरा ओढ़ना एवं रक्षक है और मैं राम-नाम का ही व्यापारी हूं॥ 1॥ मैं राम-नाम का ही व्यापार करता हूं। हरि ही मेरी दुकानदारी का विषय है॥ 2॥ मैं हजारों नाम का प्रचार करता हूं और दिन-दिन यह प्रचार सवाया बढ़ता जाता है॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं कि जिस परोक्ष ईश्वर के पक्ष में त्रिदेवों तथा वेदों ने अपने विचार रखे हैं उसी की सर्वत्र दुकानदारी हो रही है॥ 4॥ परन्तु इस दुकानदारी में तराजू टेढ़ा और पसंगेदार है तथा सेर तीन ही पाव का है। अर्थात यह व्यापार संतुलित बुद्धि से नहीं हो रहा है और सारे विचार त्रिगुण-माया तक हैं। गुरु लोग ढोल-मंजीरा बजाकर शिष्यों के कान में कोई मंत्र सुना देते हैं और इतने में उन्हें मुक्ति का झांसा दे दिया जाता है॥ 5॥ यदि ये सेर-पसेरी सही भी कर लें तो भी तराजू का पसंगेदार होना एवं टेढ़ापन मिट नहीं सकता। अर्थात मन और इन्द्रियां तथा सदाचार ठीककर आत्मतत्त्व का विवेचन करें तो भी बुद्धि असंतुलित होने से निजरूप की ठीक परख नहीं कर सकते॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! ये हठपूर्वक कुपथ में चलकर अपने आप को ठगा बैठे हैं॥ 7॥

व्याख्या—वैसे किसी प्रकार नाम-जप, संकीर्तन, नमाज, प्रार्थना, आत्मा से अलग ईश्वर मानकर उसकी किसी ढंग से उपासना यह सब किसी-न-किसी के लिए किसी-न-किसी प्रकार कुछ-न-कुछ हितकर ही है। परन्तु यहां वास्तविकता एवं यथार्थ बोध की बात की जा रही है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम-नाम या अन्य किसी प्रकार के नाम के जप को ही सर्वोपरि महत्त्व देने लगते हैं। वे कहते हैं कि हम तो नाम-जप के ही व्यापारी हैं। भगवान के सहस्र नाम का प्रचार करना तथा उसी का क्रय-विक्रय करना मेरा

काम है। क्योंकि यह नाम-जप एवं संकीर्तन ही मेरा रक्षक है।

साहेब कहते हैं "जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो।" वेदों के हजारों मंत्रों में किन्हीं परोक्ष देव एवं ईश्वर की प्रार्थनाएं हैं और उनसे बारम्बार भक्तों ने अधिक भोग तथा मोक्ष मांगा है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा अन्य देवों के द्वारा भी बारम्बार यही कहलाया गया है कि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई है जो प्रार्थना करने पर खुश होकर सब कुछ दे सकता है। इसी कल्पित ईश्वर की दुकान सर्वत्र चल रही है। प्रायः मतवादी लोग स्वयं श्रम, सदाचार एवं साधना से नहीं, किन्तु प्रार्थना के बल पर किसी के अनुग्रह से सब कुछ पाना चाहते हैं।

"कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो।" साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सोचना एवं तौलना पसंगेदार तराजू का फल है। कानि तराजू का अर्थ है टेढ़ा एवं पसंगेदार तराजू। लाक्षणिक अर्थ है असंतुलित बुद्धि। असंतुलित बुद्धि से ही यह बात मानी जाती है कि हमारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। वस्तुतः हमारा उद्धार हमारे सत्कर्मों से ही होगा। मनुष्य ही मनुष्य का सहायक है, वह भी बाहरी रूप में ही। भीतर वासनाओं का त्याग तो स्वयं करना पड़ेगा। गुरु भी केवल रास्ता बताता है, चलना स्वयं पड़ता है। यह मानना कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई शक्ति है और उसकी प्रार्थना करने पर वह आकर मनुष्य का उद्धार कर देगी, एक भ्रमित बुद्धि एवं असंतुलित बुद्धि का लक्षण है। यही कानि तराजू होना है।

"सेर तिनि पउवा" किसी का सेर चार पाव की अपेक्षा तीन ही पाव का हो तो वह व्यापारी ईमानदार नहीं माना जाता। सेर का अर्थ ही है चार पाव का वजन। परन्तु उसका वजन तीन पाव है, फिर भी वह सेर कहा जाता है और उसे तौल-नाप में सेर की जगह प्रयोग किया जाता है तो यह धोखा देने का काम है। यहां लक्षणा अर्थ में सेर का मतलब है 'सत्य' और वह सत्य त्रिगुणात्मक है, तो त्रिगुणात्मक वस्तु जड़ होती है वह कभी भी व्यक्ति का अपना स्वरूप नहीं हो सकती। "पाखण्ड रूप रच्यो इन्ह तिरगुण"[1] तथा "त्रिगुणी फांस"[2] तो बन्धन करने वाला ही है। गीताकार भी कहते हैं—"हे अर्जुन! सभी वेद त्रिगुण का उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ।"[3] नाम-जप, मंत्र-जप तथा निजात्मदेव से पृथक मन की अवधारणा

---

1. शब्द 32।
2. शब्द 59।
3. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (गीता, 2/45)

को ईश्वरादि मानना, सब मन-वाणी का विषय होने से त्रिगुणात्मक ही है। निजस्वरूप चेतन के अलावा सब त्रिगुण का ही पसारा है उनमें उलझने से स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं आत्मबोध से जीव वंचित रह जाता है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इन उपासकों का सेर तीन ही पाव का है अर्थात इनका सत्य एवं परमतत्त्व त्रिगुण माया के भीतर ही है।

"तुकिनी ढोल बजाई हो।" ढोल-झांझ बजाकर शिष्यों के कान में नाम एवं मंत्र तुक दिये, कह दिये एवं फूंक मार दिये और इतने मात्र से भवबंधनों से मुक्ति की गारंटी दे दी गयी। यह कहां तक उचित है! किसी को सन्मार्ग में लगाने के लिए मंत्र-दीक्षा देना ठीक है, परन्तु केवल मंत्र-दीक्षा एवं नाम सुनाने मात्र से सब पाप एवं बंधन भस्म होने का दावा करना लोगों को भ्रम में रखना है।

"सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो।" यहां सेर-पसेरी से तात्पर्य है क्रमशः मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां। यदि मन और इन्द्रियों को संतुलित कर लिया जाये, परन्तु तराजू का पसंगेदार होने के समान बुद्धि का असंतुलन बना रहे, तो भी कल्याण नहीं होगा। मन और इन्द्रियों का संयम तो चाहिए ही परन्तु बुद्धि का संतुलन एवं ज्ञान भी सच्चा चाहिए।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, लोग मतवाद के हठ में पड़कर अपने आप को ठगा देते हैं। पोथियों में लिखा है, गुरुजन कहते हैं, परम्परा में माना गया है, बस, इन-जैसी कुछ बातों को लेकर आदमी अपनी गलत-सही बातों का सिद्धान्त बनाकर उसी में अटक जाता है। फिर तो किसी के समझाने पर भी नहीं मानता और अपने आप को उसी हठ में ठगा देता है।

मोह-माया छोड़कर आत्माराम में रमो

कहरा-5

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो॥ 1॥
लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो॥ 2॥
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्हके यह भुइँ भाँड़े हो॥ 3॥
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सब छाँड़े हो॥ 4॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोई नाहीं हो॥ 5॥
उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँही हो॥ 6॥
नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इन्ह कर कौन बड़ाई हो॥ 7॥

कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सब चतुराई हो॥ 8॥

शब्दार्थ—भजु=भजो, स्मरण करो। लक्ष करोरि=लाख-करोड़। दादा=पिता। बाबा=पितामह। परपाजा=परपितामह। भुइँ भाँड़े=भूमि और बरतन, सारी सम्पत्ति। धन्धा=व्यापार। बार=देरी।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस निजात्मतत्त्व का बारम्बार स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो॥ 1॥ तुम लाखों-करोड़ों रुपये जोड़कर जमीन में गाड़ रखे हो और उसी के अहंकार में हाथ चमकाते घूमते हो॥ 2॥ परन्तु ध्यान रहे, तुम्हारे पिता, पितामह तथा परपितामह जिनकी यह पूरी सम्पत्ति थी, वे सब छोड़कर क्यों चले गये? तुम बाहर की आंखों के अंधे हो और तुम्हारे भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूटे हैं इसलिए बाहरी संसार की घटनाओं तथा भीतरी ज्ञान से प्रेरणा नहीं लेते हो॥ 3-4॥ इस संसार का सारा व्यवहार सारहीन है। अंत समय में कोई किसी का नहीं होता॥ 5॥ अपनी मानी हुई तुम्हारी सारी माया तो बादल की छाया की तरह है जिसके बनने-बिगड़ने में देरी नहीं लगती॥ 6॥ नात, गोत्र, कुल, कुटुम्ब—इन नश्वर चीजों की क्या विशेषता है! कबीर साहेब कहते हैं कि एक आत्माराम की स्थिति के बिना तुम्हारी सारी बुद्धिमत्ता डूब जायेगी॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब 'राम' शब्द को बहुत आदर देते हैं। परन्तु राम-नाम का जितना दुरुपयोग किया जा रहा था जो आज भी किया जा रहा है उसको लेकर कबीर साहेब के मन में कष्ट था। इसलिए उन्होंने बीच-बीच में इस आडम्बर पर बारम्बार प्रहार किया है। पिछले तीसरे तथा चौथे कहरा में आप देख आये हैं कि केवल राम-नाम-जप की मिथ्या महिमा का उन्होंने किस ढंग से निराकरण किया है! परन्तु वे बीच-बीच में सकारात्मक दृष्टि से भी 'राम नाम भजु राम नाम भजु' जैसे पद कहते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे वैष्णवों की तरह इन स्थलों पर राम-नाम संकीर्तन करने की प्रेरणा नहीं देते हैं, किन्तु उनका अभिप्राय रहता है राम शब्द को आदर देना तथा उसके अर्थ में अंतरात्मा का बोध देना। वे आम जनता के प्रमोदार्थ भी "राम नाम भजु" जैसे शब्द कहते हैं। इस कहरा में इसी भाव से कहा हुआ लगता है। वे आम जनता को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम-नाम का स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो कि संसार नश्वर है। यहां अभिप्राय रट्टू सुग्गावत राम-नाम रटना नहीं है, किन्तु अर्थ है कि एक ओर तो आत्माराम है और दूसरी ओर देह, गेह परिवारादि नश्वर संसार है। मन में विचारकर देखो कि दोनों में तुम्हारे साथ रहने वाला कौन है! ये देह-गेहादि

तो देखते-देखते नष्ट हो जायेंगे, परन्तु राम अविनाशी है वह नहीं नष्ट होगा। देहादि तक छूटेंगे, परन्तु राम तो मेरी अपनी आत्मा ही है। जैसे जल से शीतलता, आग से गरमी तथा वायु से कोमलता अलग नहीं हो सकती, वैसे राम से मेरी आत्मा अलग नहीं हो सकती। राम और आत्मा एक ही वस्तु है। "अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति। याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥"[1]

"लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो।" साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव! तुमने लाखों-करोड़ों रुपये इकट्ठे कर जमीन में गाड़ रखा है और उसी के अहंकार में अपने हाथ चमकाते घूमते हो। तुम समझते हो कि यह धन तुम्हारे साथ सदैव रहेगा। आज के जमाने में होते तो उन्हें कहना पड़ता कि जो तुमने लाखों-करोड़ों रुपये बैंकों में जमा कर रखा है, अपने नाम से फिक्स्ड डिपॉजिट कर रखा है इससे तू क्या समझता है! क्या तेरा जीवन भी बैंक वाले या कोई भी फिक्स्ड डिपॉजिट कर लेगा। यह समझ लो कि यह जीवन फिक्स्ड डिपॉजिट एवं स्थिर-धरोहर नहीं है। यह अचानक गायब हो जाने वाला है। इसलिए तन-धनादि का अहंकार करना केवल अज्ञान है।

तुम इतना ही ध्यान दो कि तुम्हारे पिता, पितामह, परपितामह आदि, जिनकी यह पूरी सम्पत्ति थी, नहीं ले जा सके। चलते समय उनके साथ करोड़ों में से कौड़ी भी तो नहीं गयी। इतना ही क्या, संसार में सूर्यवंश, चन्द्रवंश, निमिवंश, यदुवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश, हूणवंश, गुप्तवंश, राजपूतवंश, गुलामवंश, मुगलवंश, फिरंगीवंश, आदि के रजवाड़ों ने सैकड़ों वर्ष पृथ्वी पर राज्य किया, परन्तु आज उनके मात्र नाम शेष हैं। कितने रजवाड़ों के तो, टीलों की खुदाई में कुछ अवशेष मिलते हैं, परन्तु जिनके अवशेष मिलते हैं उनके नामादि तक का परिचय नहीं मिलता। इन अहंकारी रजवाड़ों ने भी अधिकतर एक दूसरे को मारा-काटा, दबाया-सताया और अभिमान का प्रकाश किया, और क्या किया? यहां सब धन-जन को मेरा-मेरा कहकर हाथ-पैर पटकते हैं, परन्तु अन्त में किसी के साथ कुछ नहीं जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आंखों के अंधे हो जो दूसरों को खाली हाथ जाते देखकर भी नहीं चेतते हो। इतना ही नहीं, तुम्हारे हृदय के विवेक-विचार नेत्र भी फूटे हैं, क्योंकि तुम इतनी-सी बात भी नहीं समझते हो कि मिली हुई विजाति वस्तुएं

---

1. बीजक, पाठफल 3।

एवं प्राणी अवश्य छूटते हैं। जो निश्चित ही अचानक छूट जाने वाले हैं उनके मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में पड़े अपने रत्नतुल्य जीवन को बरबाद कर रहे हो।

"ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो। उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँहीं हो।" इस संसार के सारे धन्धे सारहीन हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन-निर्वाह के धन्धे ही नहीं करना चाहिए। यहां धन्धा का तात्पर्य यह है कि यहां की सारी गतिविधियां अन्त में नश्वर हैं। यह ठीक है कि आदमी अपने शरीर के लिए, स्वजनों के लिए तथा परिजनों एवं परोपकार के लिए भी श्रम करे, परन्तु यह ध्यान रखे कि यहां आकर्षक मानकर कुछ रमने की वस्तु नहीं है। यहां सब कुछ नश्वर है। प्रातःकाल की सौम्य प्रकृति दोपहर को कहां रह जाती है? संध्या का रक्ताभ दृश्य काली रात में कहां रहता है? नवजवानी की मादकता अधेड़ एवं बुढ़ापा में कहां दृश्य होती है? वैवाहिक दिन के राग-रंग पीछे कहां रह जाते हैं? ये रसभरी जवानी, सुहागरात, अनुकूल पत्नी, मनोहर पुत्र, मित्रों का मिलन—सब कुछ नश्वर है। ये सब बादल की छाया की तरह क्षण-क्षण बनने-बिगड़ने वाले तथा अन्ततः एकदम गायब हो जाने वाले हैं।

तुम्हें अपने नाता-गोता, कुल-कुटुम्ब का बड़ा गर्व है, परन्तु यह तुम्हें ख्याल होना चाहिए कि इनमें से एक-एक कर कुछ दिनों में इस संसार से सब लोग उठ जायेंगे। तुम अपने आप को बहुत स्वजनों एवं मित्रों के बीच पाकर गर्व करते हो, यह तुम्हारा भोलापन एवं बालकपन है। तुम भले बूढ़े हो गये हो, परन्तु यदि संसार के प्राणी-पदार्थों की गरमी में पड़े हो तो तुम भोले हो। ये स्वप्न में मिले हुए के समान हाथ आने वाले नहीं हैं। संसार के धन-जन से सम्पन्न होने से तुम्हारी कोई बड़ाई नहीं है। तुम्हारी बड़ाई तो है राम-भजन में। सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना तुम्हारा सारा बड़प्पन, सारी बुद्धिमानी डूब जायेगी।

एक विद्वान प्रोफेसर एक नौका पर बैठकर नदी पार करने लगे। केवट नौका चलाने लगा। प्रोफेसर अपनी विद्वता के गर्व में केवट से पूछने लगे—क्यों जी! अर्थशास्त्र जानते हो? केवट ने कहा—बाबू जी! मैं नहीं पढ़ा हूं। प्रोफेसर ने कहा—तुम्हारे जीवन का एक हिस्सा डूबा है। कुछ क्षण ठहरकर उन्होंने पुनः पूछा—क्या तुम विज्ञान जानते हो? केवट ने कहा—बाबू, नहीं जानता। प्रोफेसर ने गर्व में कहा—तुम्हारा आधा जीवन बेकार है। कुछ क्षण के बाद पुनः पूछा—क्या, तुम इंगलिश जानते हो? केवट ने कहा—बाबू! मैं

स्कूल गया ही नहीं हूं। प्रोफेसर ने कहा—तब तो तुम्हारा पौना जीवन डूबा है। इतने में तूफान आया और नौका नाचने लगी। केवट को लगा कि नौका डूब जायेगी। उसने प्रोफेसर साहब से पूछा—बाबू जी! आप तैरना जानते हैं? प्रोफेसर साहब ने घबराकर कहा—मैं तो एक कदम भी नहीं तैर सकता, क्योंकि मैं तैरना बिलकुल नहीं जानता। केवट ने कहा—तब तो बाबू जी! आपका पूरा जीवन डूब गया। केवट बांस-बल्ली फेंककर नदी में तैरने लगा और कुछ क्षणों में पार लग गया और प्रोफेसर साहब नदी में डूब गये।

हमारी दशा यही है। हमारी सारी विद्या-बुद्धि एवं प्रभुता राम-भजन के बिना डूब जायेगी। राम-भजन है विषयों से विमुख होकर आत्माराम में लीनता। सारे ऐश्वर्य, विद्या-बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति भी अंत में भवसागर में डूब जाता है। भवसागर से तो वही पार होता है जो विषयों की आसक्ति छोड़कर आत्माराम में रमण करता है।

राम-रत्न तुम्हारे हृदय में ही है जो तुम्हारा स्वरूप है

कहरा-6

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जन्म गमायो हो॥ 1॥
सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो॥ 2॥
जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो॥ 3॥
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो॥ 4॥
दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो॥ 5॥
गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो॥ 6॥
कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो॥ 7॥

शब्दार्थ—सेमर=सेमल का फल। जहँड़े=ठगा गये, धोखा खा गये। ऊन=नीरस रुई। मदपी=शराब पीने वाला। गाँठि=पास, जेब। दर्बहीन=द्रव्यरहित, निर्धन। तवाई=संताप, दुख। रतन=रत्न, निजस्वरूप चेतन। पारख=परीक्षा, ज्ञान। बहोरी=पुनः।

भावार्थ—हे मनुष्य, जिसका नाम राम है उस निज आत्मतत्त्व के ज्ञान तथा उपासना-बिना तूने अपने नरजन्म को व्यर्थ ही खो दिया॥ 1॥ तुम माया-मोह में उसी प्रकार ठगा गये जैसे शुकपक्षी ने सेमल के फल में रस की आशा कर उसमें चोंच मारी और उसमें से नीरस रुई निकली और उसे पश्चाताप करना पड़ा॥ 2॥ और जैसे मदिरा पीने वाला अपनी जेब से पैसे देकर मदिरा पीता है और पास की बुद्धि भी खो बैठता है॥ 3॥ भला, स्वाद मात्र लेने से पेट कैसे भरेगा! ओस चाटने से कहीं प्यास जाती है!॥ 4॥ जैसे

धनहीन आदमी लम्बी-लम्बी योजनाएं बनाने के बाद भी कुछ कर न सकने के कारण मन में संताप करके रह जाता है, वैसे आत्माराम-धन के ज्ञान बिना आदमी धर्म के नाम पर भटकता है॥ 5॥ रामरूपी रतन तो सबकी अपनी गांठ में एवं हृदय में ही है, परन्तु लोग इस रहस्य को नहीं जानते। हां, पारखी सद्गुरु जिसे परखा देते हैं वह अपनी परख से, परीक्षा एवं ज्ञान से उसे जान लेता है और उसे सारी जड़ग्रन्थियों से छुड़ा लेता है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आज स्ववश नरजन्म का सुनहला अवसर बीत जाने पर यह राम-रतन नहीं मिलेगा, आत्मबोध नहीं होगा। अतएव शीघ्र सावधान!॥ 7॥

व्याख्या—मनुष्य समझता है कि हम धन, भवन, परिवार, विद्या, अधिकार आदि से सम्पन्न हैं तो हमारा जीवन सार्थक है; किन्तु दीर्घदृष्टि वाले संतों ने जीवन की सार्थकता एवं निरर्थकता पर अपना भिन्न दृष्टिकोण रखा है, जिसे समझाने पर संसारी लोग भी समझते तो हैं, परन्तु उस समझ में स्थिर नहीं हो पाते, पुनः माया में भूलकर उसी की उपलब्धि में अपनी सार्थकता समझने लगते हैं। संत कहते हैं कि मनुष्य संसार के सारे प्राणी-पदार्थों को पाया, परन्तु अपनी अन्तरात्मा को नहीं पाया, तो क्या पाया! जीवन की सार्थकता है राम में रमने में। एक ओर आत्माराम है और दूसरी ओर भोग-काम। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य आत्माराम को न समझा, उसमें नहीं रमण किया तो वह कुछ नहीं पाया। आत्माराम की स्थिति-बिना संसार का सब कुछ पाकर भी मानो उसने अपने जीवन को व्यर्थ गवां दिया। क्योंकि माया चाहे जितनी मिले, वह अंततः छूट जायेगी और आत्माराम तो व्यक्ति का निजस्वरूप ही है। वह उससे अलग हो ही नहीं सकता। अतएव उसी के बोध तथा स्थिति में जीवन की सार्थकता है। इसलिए सद्गुरु ने इस कहरा में राम के बिना जीवन मिथ्या बताया है।

"सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो॥" मायासक्त जीव को अन्त में उसी प्रकार हाथ मल-मलकर पछताना पड़ता है जैसे शुक-पक्षी को सेमल-फल के सेवन के बाद जब उसमें सूखी रुई निकलती है तब पछताना पड़ता है। सेमल के पेड़ बड़े-बड़े होते हैं, वसन्त में उसमें बड़े-बड़े लाल-लाल फूल खिलते हैं और ऐसे खिलते हैं कि पूरा पेड़ लाल फूलों से ढक जाता है। शुक-पक्षी उन्हें देखकर बहुत खुश होते हैं कि इनमें फल आयेंगे तब हम उन्हें खाकर तृप्त होंगे। फूल के बाद फल आते भी हैं। फल भी बड़े-बड़े देखने में शोभायमान होते हैं। शुक-पक्षी की आशाएं और बढ़ जाती हैं। जब फल पक जाते हैं और शुक-पक्षी उनमें चोंच मारते हैं कि अब इनका

स्वाद चखें तब सेमल के फल फूटते हैं, और उनमें से नीरस रुई निकलती है, यह दशा देखकर शुक-पक्षी निराश होकर उड़ जाते हैं। परन्तु वे मूढ़ अगले वसंत में पुनः उसी सेमल का सेवन करते हैं। इसी प्रकार वे पूरा जीवन सेमल से ठगाते रहते हैं।

मनुष्य की दशा यही है। वह अपनी रसभरी लगती हुई जवानी, युवती पत्नी, मनोहर बच्चे, मकान, धन, प्रतिष्ठा देखकर उनमें भूल जाता है। समझता है कि इससे बड़ी उपलब्धि क्या होगी! इससे बड़ा सुख क्या होगा! परन्तु थोड़े ही दिनों में अपना ही जवान शरीर ढीला हो जाता है। युवती पत्नी रूखी और अनसुहाती हो जाती है। जो पत्नी एक दिन भ्रमवश स्वर्ग लगती थी, वही पीछे नरक लगने लगती है। जिन बच्चों से बड़ी आशा थी, उनसे मन उदास हो जाता है। पद छूटते हैं। प्रतिष्ठा घटती है। मित्र बदलते हैं। सभी सुखों का आधार माना गया शरीर ही ढीला-ढाला हो जाता है, तब और क्या स्थिर रहने वाला है! साहेब कहते हैं—मूढ़ मानव! तू शुक-पक्षी से भी ज्यादा बेवकूफ है, क्योंकि शुक-पक्षी तो केवल स्वाद और पेटपूर्ति के लिए धोखा खाता है, परन्तु तू तो पांचों इन्द्रियों के भोगों में मतवाला बनकर संसार से धोखा खाता है।

"जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो।" संसार के लोग माया-मोह में पड़कर उसी प्रकार बेवकूफ बनते हैं जैसे मदिरा पीने वाला आदमी अपनी जेब से पैसे देकर अपने पास की बुद्धि भी खोता है। आप जानते हैं कि मदिरा पीने के आदती मदिरालय में जाकर अपनी जेब से धन देते हैं और मदिरा पीने के बाद अपनी बुद्धि भ्रष्ट करते हैं। यह भला, कौन-सी समझदारी की बात है! मनुष्य संसार के भोगों में पड़कर यही करता है! वह भोगों के संग्रह में पहले अपनी शक्ति क्षीण करता है और पीछे भोग-क्रियाओं में उलझकर विवेक-शक्ति नष्ट कर देता है। जिस सुनहले अवसर में वह संसार के भोगरूपी कूड़ा-कबाड़ को इकट्ठा करता है, उसमें वह अपने मन-इन्द्रियों को साधकर मोक्ष का काम कर सकता है। भोगों के संग्रह तथा उनके उपभोगों के बाद मनुष्य की दशा मदिरा पीने के बाद की स्थिति वाली हो जाती है। आदमी आदत एवं प्रमाद-वश मदिरा पीता है। उसे पीते समय बड़ी मर्दानगी एवं बहादुरी लगती है, परन्तु पीकर सड़कों में लड़खड़ाते हुए चलते समय एवं नालियों में लोटते समय उसकी जो दयनीय दशा होती है, वही भोग के बाद भोगी मनुष्य की या जीवन के उतार में भोगी जीवन की होती है। शराबी के जीवन की तरह भोगी जीवन अन्त में केवल पश्चातापों का

घर होता है। भोगी जीवन अशांत, तृष्णा से उद्विग्न एवं पीड़ित होता है।

"स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसे प्यास न जाई हो।" भला केवल स्वाद से पेट कैसे भर सकता है! और ओस चाटने से प्यास कैसे जायेगी! कोई व्यक्ति केवल किसी स्वादीली वस्तु को जीभ से चाट-चाटकर अपना पेट नहीं भर सकता। तृप्त होने के लिए भोज्य पदार्थों को ठीक से जीमना पड़ता है। इसी प्रकार प्यासा आदमी ओस चाटकर प्यास बुझाना चाहे तो उसकी दुराशा है। प्यास बुझाने एवं तृप्त होने के लिए स्वच्छ, शीतल एवं सुमिष्ट जल पीने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मानसिक भूख-प्यास भोगों से नहीं जा सकती। इन्द्रियों के सारे भोग-स्वाद ओसकणवत तुच्छ हैं। उनसे तृप्ति हो ही नहीं सकती। आज तक उनमें किसी की तृप्ति नहीं हुई है। भोगी आदमी स्वयं विचार ले कि वह जितने भोगों में लगा है, क्या उनमें तृप्त हुआ है! भोग तृप्ति के आधार ही नहीं हैं! तृप्ति तो आत्म-भोग में ही है। जो अपनी अन्तरात्मा में निरंतर रमता है, जो अपने स्वरूपराम में सदैव निमग्न है, वही तृप्त है। भोगों को त्यागकर तृप्ति मिलती है। जो विषय-भोगों को त्याग देता है वह निजस्वरूप में नित्य तृप्त हो जाता है।

"दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो।" जैसे धनहीन की सारी लौकिक योजनाएं धरी रह जाती हैं। बिना धन के न जमीन खरीदी जा सकती है, न मकान बन सकता है, न दुकान चलायी जा सकती है और न साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं। धनहीन आदमी के प्रयोजन निष्फल जाते हैं। वह बेचारा मन में केवल संतापित रहता है।

यही दशा भोगियों की है। उनके पास अपार धन है। भवन, वाहन, पत्नी, बच्चे तथा समस्त ऐश्वर्य हैं, परन्तु आत्म-धन के बिना वे बिलबिलाते हैं। जिसने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना एवं जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो विषयों को त्यागकर अनासक्ति का धन नहीं इकट्ठा किया, जिसमें त्याग, वैराग्य, संयम, क्षमा, संतोष, सत्य, सदाचार तथा शांति का धन नहीं है, वह दरिद्र बना मन में पीड़ित होता रहता है। जैसे धन के बिना भोग नहीं होता वैसे त्याग के बिना शांति नहीं मिलती। भोग का परिणाम तो अंततः दुखदायी है। परन्तु त्याग का परिणाम सदैव आनन्द एवं शांति है।

"गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु उन्हें उसका ख्याल नहीं है। उनको परख भी नहीं है कि हमारी गठरी एवं जेब में जो है वह रत्न है कि कांच की गोली। ज्यादातर तो लोग यही मानते हैं कि हमारे पास तो कांच की गोली है, हम जैसे निर्धन के पास रत्न

कहां हो सकते हैं! ऐसा वे क्यों समझते हैं, क्योंकि उनके पास परख नहीं है। परन्तु जिनके पास परख होती है; जिन्हें पारखी गुरु ने परखा दिया है; पारखी सद्गुरु द्वारा जिनकी परख-शक्ति का उद्घाटन हो गया है, वे अपनी गांठ एवं जेब के रत्न को जान लेते हैं, कि यह रत्न है और वे गठरी से खोलकर उसे भुना लेते हैं तथा उस धन से मालामाल हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हारे हृदय में जीव-धन महान रत्न है। इसकी तुम्हें परख नहीं है। इसलिए तुम इसे तुच्छ कांचवत समझते हो। तुम्हें भ्रम है कि यह देहनिवासी जीव तो अंश, प्रतिबिम्ब, आभास, अल्पज्ञ, अज्ञानी एवं तुच्छ है; पूर्ण, ज्ञाता और श्रेष्ठ तो कहीं आकाश में बैठा है। परन्तु ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण धारणा के मूल में है जीव की परख न होना। जीव का स्वरूप ही पारख है, ज्ञान है। जीव की परख से ही जीव की परख करनी है। अपने ज्ञान से ही हमें ज्ञानतत्त्व की महिमा को समझना है। जब पारखी सद्गुरु मिल जाते हैं तब वे अपनी परख से मनुष्य को परखा देते हैं कि यह जीव न किसी का अंश है, न प्रतिबिम्ब है, न आभास है। यह अपने आप में स्वरूपतः निर्विकार, निर्मल, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ तथा सर्वज्ञ जो कुछ कहो, ज्ञाता मात्र यही है। जीव के अलावा कहीं कोई दूसरा ज्ञाता है ही नहीं। जीव के अलावा कोई ज्ञाता है, यह जीव की ही कल्पना है। निश्चित है कि जीव संसार का अल्प ज्ञान रखता है। इसलिए वह कल्पना करता है कि एक कोई ऐसा होगा जो सब कुछ एवं सारे संसार के कण-कण को जानता होगा। परन्तु यह केवल कल्पना है।

वस्तुतः मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। यह परम रत्न है। इससे बड़ा रत्न कहीं कोई नहीं है। मनुष्य अपनी आत्मा को तुच्छ मानकर अलग परमात्मा मानता है यह उसकी परखहीनता है। वह किसी देव का पशु बनना चाहता है। जिसे पारखी सद्गुरु ने परखा दिया है और जिसे सच्ची परख हो गयी है वह समझ गया है कि मेरी आत्मा सभी देवों का देव, ईश्वरों का ईश्वर एवं परमात्माओं का परमात्मा है। मनुष्य की आत्मा के बराबर भी कोई नहीं है, फिर उससे बढ़कर किसी के होने की तो बात ही नहीं उठती। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" यह पंक्ति कबीर साहेब की वाणियों के महावाक्यों में से एक महावाक्य है। सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग उसका रहस्य नहीं जानते हैं। जिनके पास पारख है वे उसे खोल लेते हैं। खोल लेने का मतलब है पहचान लेते हैं कि मेरी आत्मा ही महान है। खोलने का दूसरा अर्थ है कि अपने ज्ञानतत्त्व को वे सारी जड़ग्रन्थियों से छुड़ा लेते

हैं। मन, देह, पांच विषय तथा संसार के समस्त प्राणी-पदार्थों की आसक्ति से अपनी चेतना को छुड़ा लेना ही गांठ से अपने रत्न को खोल लेना है। इस प्रकार "पारख लीन्हा छोरी हो।" का दो प्रकार से अर्थ हुआ। एक यह कि परखबल से आत्मा की पहचान हो गयी और दूसरा यह कि अपनी आत्मा को समस्त जड़ासक्तियों से छुड़ा लिया।

"कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि वर्तमान का सुनहला अवसर बीत जाने पर इस रामरत्न एवं आत्मरत्न का न ज्ञान होने का चांस रहेगा और न इसे बंधनों से छुड़ाकर तुम कृतार्थ हो सकोगे। इसलिए वर्तमान का दुरुपयोग न करना। भूत तो बीत चुका है और मर चुका है तथा भविष्य चाहे जितना स्वर्णिम हो, उसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। केवल वर्तमान तुम्हारे हाथों में है। यही अवसर है जब तुम अपने ज्ञानरत्न को समझकर तथा उसमें लीन होकर कृतार्थ हो सकते हो। यदि हमारा वर्तमान ज्ञानमय हो जाये तो मानो भूत सुधर गया तथा वर्तमान सुधरा हुआ होने से सारा भविष्य वर्तमान होता जायेगा और इस तरह मानो भविष्य भी सुधरा हुआ हो जायेगा। अतएव जिसने वर्तमान को सुधार लिया उसका सब मंगल है।

सद्गुरु ने इस कहरा में यह बताया है कि निज चेतनस्वरूप राम के ज्ञान तथा स्थिति के बिना तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। तुम जिन सांसारिक वस्तुओं को लेकर भूल रहे हो वे निस्सार हैं। उनमें तुम्हें तृप्ति नहीं मिल सकती। आध्यात्मिक शक्ति के बिना आदमी केवल दुखी होता है। आत्माराम रूपी रत्न सबके हृदय में विद्यमान है, किन्तु उसकी परख न होने से मनुष्य भटकता है। उसकी परख करने का सुनहला अवसर आज है। यदि आज चूक गया तो रामरत्न नहीं मिलेगा। यद्यपि वह नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है, परन्तु उसकी हमें परख नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पारखी सद्गुरु की शरण लेकर उनके सत्संग में अपने राम-रत्न को परखे।

निष्काम व्यक्ति निर्भय हो सुख से सोता है

कहरा-7

रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो॥ 1॥
मूँड़ मुँड़ाय फूलि के बैठे, मुद्रा पहिर मँजूसा हो॥ 2॥
तेहि ऊपर कछु छार लपेटे, भितर-भितर घर मूसा हो॥ 3॥
गाँव बसतु हैं गर्भ भारती, बाम काम हंकारा हो॥ 4॥
मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो॥ 5॥

माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो॥ 6॥
निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीराहो॥ 7॥

शब्दार्थ—सँभारे=संयत करना। मुद्रा=स्फटिक पत्थर या कांच का बना कुंडल जिसे गोरखपंथी योगी पहनते हैं। मँजूसा=मंजूषा, पिटारी, गुफा। छार=धूल, राख। गाँव=संसार। गर्भ=गर्व, अहंकार। भारती=दसनामी संन्यासियों का एक भेद, पूरे दसनामियों के नाम ये हैं—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी। बाम काम=टेढ़ा कार्य, स्त्री में आसक्ति। मोहन=मोहने वाला, स्थूल-सूक्ष्म भोग। पत=साख, लज्जा, मर्यादा। माँझ मँझरिया=हृदय। जन=मनुष्य। गुरु की नगरिया=गुरु की संगत, सत्संग, निजस्वरूप चेतन, निष्काम स्थिति।

भावार्थ—कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि हे मनुष्यो! तुम अपने आप को संयत रखो और सदैव आत्माराम का चिंतन करो॥ 1॥ कितने लोग तो यह न कर साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। वे सिर के बाल छिलवा लेते हैं, कानों में कुंडल पहन लेते हैं और साधुत्व का अहंकार कर गुफा में जा बैठते हैं॥ 2॥ वे शरीर के ऊपर कुछ राख भी लपेट लेते हैं, परन्तु उनके हृदय-भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादि चोरों ने ज्ञान-धन को चुराकर उन्हें खोखला बना दिया है॥ 3॥ संसार में तो गिरि, पुरी, भारती आदि कहलाने वाले बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी बसते हैं, परन्तु उनके प्रायः सारे काम टेढ़े तथा अभिमान से भरे होते हैं, और कितने तो काम-मोहित तथा कामिनी के दास ही होते हैं॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे लंपट वेषधारियो! ये मोहने वाली माया तुम्हें यत्र-तत्र ले जाकर पटकेगी और स्वात्मा तथा संसार में तुम्हारी मर्यादा एवं साख नहीं रह जायेगी॥ 5॥ जो सारी वासनाओं को त्यागकर अपने हृदय में ठहरना जानते हैं वे ही मनुष्य स्थिरता एवं शांति पाते हैं॥ 6॥ विनम्र कबीर तो सारी वासनाओं को छोड़कर निर्भय हो गया है और अंतरात्मा की स्थिति में सुख से सो रहा है॥ 7॥

व्याख्या—"रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो।" कबीर साहेब अपनी बातें पुकारकर कहते हैं जिससे उनके इच्छुक तथा अनइच्छुक दोनों सुनें। कबीर साहेब के विचार एक आंदोलन है। वे इस कहरा की पहली पंक्ति में दो बातें कहते हैं। पहली बात है अपने आप को सम्हाल कर रखना और दूसरी बात है राम का विचार करना। संसार में जीव के उद्धार के लिए ये दो काफी हैं। इनसान हर समय बहता है। वह अपने आप को सम्हाल नहीं पाता। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि उसका पहला काम है कि वह अपने आप

को सम्हाले। सम्हालने का अर्थ है अपने आप को संयत करना, अपने आप को काबू में रखना। जब हम अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं तब मानो हमने अपने आप को सम्हाल लिया। इसके बाद दूसरी बात आती है राम का विचार करना। आत्मचिंतन ही राम का विचार करना है। देहाभिमान छोड़कर अपनी चेतना में स्थित होना ही राम का विचार करना है।

साहेब कहते हैं कि उक्त बातें तथ्य की हैं। सबको यही करना चाहिए। परन्तु कितने लोग यह साधना का काम न कर भड़कीले वेष बनाकर साधु-संन्यासी कहलाना चाहते हैं। वे मूड़ मुड़ा लेते हैं, कान में कुंडल पहन लेते हैं, देह में राख लपेट लेते हैं और इस वेष के अहंकार में फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। कहीं गुफा में बैठकर योग-साधना का भी पाखंड कर लिये तो भोले लोगों में वे और प्रसिद्ध हो जाते हैं। परन्तु हार्दिक वैराग्य के बिना यह वेष उनके लिए बंधनों का ही कारण बनता है। वे ऊपर-ऊपर तो उच्च साधु-संन्यासी के वेष में मंडित रहते हैं और भीतर-भीतर खोखला बने रहते हैं। जैसे शिशु के हाथ में छुरी दे दी जाये तो वह उससे अपने हाथ-पांव काट लेने के सिवा कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकता, वैसे वैराग्य-विहीन लोग साधु-संन्यासी के वेष धारणकर अपने आप तथा समाज को छल सकते हैं, कोई रचनात्मक एवं कल्याण का काम नहीं कर सकते।

संसार में बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी हैं। वे अपने नाम के आगे-पीछे बड़ी-बड़ी पदवियां, विशेषण एवं उपाधियां लगाते हैं। कितने साधु-संन्यासियों के नाम यदि कहीं लिखे या छपे हों तो एक लम्बी लाइन में होते हैं। उनमें उनका असली नाम क्या है तथा विशेषण क्या है समझना सरल कार्य नहीं है। कितने साधु-संन्यासी जिन्होंने अपने नाम में ज्यादा विशेषण लगा लिया है किसी के अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन करना तो दूर रहा, आशीर्वाद देने में भी अपनी हेठाई समझते हैं। वे नमस्कार करने वाले को ताक दें तो उनकी बड़ी कृपा होगी। कितने साधु-संन्यासी तो ऐसे हैं कि वे किसी को भी नमस्कार नहीं करते, चाहे वह कितना ही वृद्ध एवं ज्ञानी हो। साधु-वेष जो विनम्रता का लक्षण है, जिसे पहनकर विनम्र होना चाहिए, उसे पहनकर वे घोर अंहकारी हो जाते हैं। कितने वेषधारी साधु-संन्यासियों के काम ही टेढ़े रहते हैं। "बाम काम" का अर्थ है टेढ़े काम। 'बाम काम' का अर्थ स्त्री-सम्मोहन भी है। बाम कहते हैं स्त्री को और काम कहते हैं इच्छा एवं वासना को। कितने साधु-संन्यासी नामधारी यह माने रहते हैं कि हम निर्लिप्त आत्मा हैं। इन्द्रियां भोगों में लगी रहती हैं तो कोई हर्ज नहीं है। मैं

इन्द्रियों से निर्लेप हूं। इन्द्रियां कुछ भी करें, मेरा कुछ नहीं बिगड़ता! ऐसे लोग उदाहरण देते हैं—"ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, राम, कृष्ण, जनकादि सब सपत्नीक थे, इनमें कइयों ने गृहस्थी का भी अतिक्रमण कर भोगों को भोगा है, परन्तु उनके ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, तो मेरी इन्द्रियां यदि विषयों में लगी रहें तो मुझ निर्लेप आत्मा का क्या बिगड़ता है।" कहना न होगा कि यह सब बाम-काम है और निर्लेप होने का मिथ्या अहंकार है। यह ध्यान रखना होगा कि जो ऊपर ब्रह्मादि के नाम लिये गये हैं वे सब गृहस्थ थे। साधु-संन्यासी विरक्त होता है। दोनों के आदर्श अलग-अलग हैं। यदि कोई गृहस्थी में रहकर उनका अतिक्रमण करके भोग करता है तो वह क्षम्य नहीं है और न उसके आचरण किसी के लिए भी आदर्श हो सकते हैं। यह ठीक है कि आत्मा मूलतः निर्लेप है, परन्तु उसी तरह अपने मन-इन्द्रियों को भी जीवनभर विकारों से अलग रखे, तब उसकी निर्विकारता प्रमाणित होगी। इन्द्रियों के विषयों में लिपटा रहे और निर्लिप्तता का जबानी जमा-खर्च किया करे तो वह धूर्त है। प्रकृति उसे कभी नहीं क्षमा कर सकती।

इसलिए साधु-संन्यासी के वेष में भोग की भावना करने वाले और उसे शास्त्रज्ञान की डींग से ढांकने वाले वंचकों के लिए सद्गुरु ने कहा "मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो।" मोहन कहते हैं मोहने वाले को। खानी जाल तथा वाणी जाल ये मोहन हैं। स्त्री, पति, पुत्र, धन, प्राणी, पदार्थ स्थूल वस्तुएं खानी जाल है तथा सत्य से विचलित कर असत्य में लगाने वाले शास्त्रों के वाक्यजाल वाणी जाल है। इन्हीं दोनों में मोहित होकर जीव भटकते हैं। साहेब कहते हैं कि तुम भले साधु-संन्यासी के वेष धारण करो, यदि तुम मोहन के चक्कर में हो तो वे तुम्हें जहां-तहां ले जायेंगे। यह "जहाँ तहाँ लै जइहैं" वाक्यांश बड़ा मार्मिक है। जो स्थूल-सूक्ष्म माया में मोहित होगा वह अपनी त्याग-मर्यादा में, स्वरूपस्थिति की मर्यादा में नहीं रह पायेगा। वह जहां-तहां भटकेगा। जो काम नहीं करना चाहिए वह काम करेगा। इसलिए ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु कहते हैं—"नहिं पत रहल तुम्हारा हो।" ऐसे लोगों की न तो अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा रह जाती है और न समाज में साख रह जाती है। वे भीतर से खोखले हो जाते हैं तथा बाहर से बदनाम हो जाते हैं।

अपनी आत्मा में कौन प्रतिष्ठा पाता है इसके लिए सद्गुरु कहते हैं "माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो। निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो।" माँझ मँझरिया है हृदय। जो व्यक्ति

अपने हृदय में बसना जानता है वह स्थिर होता है। जिसका मन हृदय से निकलकर बाहर भटकता है वह पतित है, और जिसका मन हृदय में ही ठहर जाता है वह स्थिर, शांत एवं सर्वोच्च पद पर स्थित है। मन हृदय में है। वह वहां से निकलकर कहीं जाता तो नहीं है, केवल बाहर की विकारी यादें करते रहना मानो मन का बाहर निकलकर भटकना है। अतएव अर्थ हुआ कि जिसका मन विकारों की याद नहीं करता, किन्तु शांत रहता है वह स्थिर है। इसी को इस ढंग से भी कह सकते हैं कि जिसका मन संसार का भटकाव छोड़कर हृदय में शांत हो गया है वह मानो स्थिति पा गया, ठहर गया।

मन की शांति ही गुरु का नगर है। यह निर्भय नगर है। जिसके मन में सांसारिक हलचल नहीं है, जिसके मन में हानि-लाभ, शोक-मोह के द्वंद्व नहीं उठते, जिसके लिए जीना-मरना समान है, उसकी यह दिव्य स्थिति गुरु का नगर है। जो इस नगर में बसता है वह निर्भय हो जाता है चाहे साधु-संन्यासी वेष में हो और चाहे साधारण वेष में हो। जो विनम्र है, जिसने सारे अहंकार तथा माया-मोह का त्याग कर दिया है, वह बंदा गुरु के निर्भय-नगर में निश्चिंतता की नींद सोता है। संत-गुरु का सत्संग भी निर्भय नगर है। साधुसंगत निर्भयनगर है। सत्संग में रहने वाला सुख से सोता है। किन्तु पूर्णरूप से निर्भय वही होगा जिसने गुरु के सत्संग का पूर्ण आचरण कर लिया है। चित्त का निर्विषय हो जाना, सांसारिक हानि-लाभ की चिंता समाप्त हो जाना, देहाभिमान का त्यागकर निरन्तर आत्माराम में विश्राम पा जाना—यही "माँझ मँझरिया" बसना है। यही गुरु का नगर है। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं वहां सुख से सोता हूं। जिसका हृदय शांत है, जो निर्भय है, वही सुख से सोता है। केवल धन, विद्या, पद, अधिकार, प्रतिष्ठादि पाने वाला, निर्भय होकर सुख से नहीं सो सकता। निर्भय होकर सुख से सोना बड़े सौभाग्य का फल है और यह सौभाग्य व्यक्ति के अपने हाथों में है। जो व्यक्ति सारी कामनाओं का त्याग कर देता है, वह निर्भय हो जाता है और सुख से सोता है।

माया-मोह छोड़कर राम में रमो

कहरा-8

क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो॥ 1॥
आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो॥ 2॥
सुर नर मुनि जति परि औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो॥ 3॥
कहाँ लों गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो॥ 4॥

पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो॥ 5॥
ये भि जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो॥ 6॥
कुशल कहत कहत बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो॥ 7॥
कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो॥ 8॥

शब्दार्थ—क्षेम कुशल=सुरक्षा, कल्याण। सही सलामत=निरापद, सुरक्षित। सर्वतंग=सभी व्यवस्था, सर्वस्व। जति=यति, त्यागी। पीर=गुरु। औलिया=तपस्वी, सिद्ध। मीरा=मीर, सैयद जाति की उपाधि, सरदार, धार्मिक नेता। सूरा=सूर्य। पूरा=संतोष।

भावार्थ—माया ने किसका कल्याण किया है!॥ 1॥ वह आते और जाते दोनों समय मानो जीवों को लूटती है और उनका सर्वस्व हरण कर लेती है ॥ 2॥ माया ने सुर, नर, मुनि, त्यागी, गुरु, तपस्वी, सिद्ध, सैयद, धर्माचार्य कहां तक गिनकर बताया जाये, असंख्य करोड़ तक प्राणियों को पैदा किया, परन्तु यहां से सब चले गये और चले जाते हैं॥ 3-4॥ यहां तक कि पानी, पवन, आकाश आदि से निर्मित सारी वस्तुएं नष्ट होती हैं और चांद-सूर्य भी निरंतर गतिशील हैं॥ 5॥ इस संसार से तो 'ये' और 'वो' अर्थात सबको जाना निश्चित है। खेद यही है कि किसी को अपने जीवन में संतोष नहीं मिलता॥ 6॥ सब लोग एक दूसरे से माया का ही कुशल-मंगल पूछते और बताते हैं, परन्तु माया में अपना कुशल एवं कल्याण मानना ही मानो काल की फांसी है॥ 7॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि तुम्हारी मानी हुई अपनी सारी मायावी दुनिया नष्ट हो जायेगी, परन्तु अविनाशी राम कभी नहीं मिट सकता। वह सब समय अवशेष रहेगा॥ 8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस कहरा में माया तथा मायावी वस्तुओं से कल्याण मानने का प्रत्याख्यान किया है। वे पहली पंक्ति में कहते हैं "क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो।" कबीर साहेब की बातों के श्रोता हिन्दू और मुसलमान, इन दोनों वर्गों के लोग रहते थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन दोनों को लक्ष्य में रखकर अपनी बातें कहीं हैं। वैसे उनकी बातें मानव मात्र के लिए हैं। यहां पर क्षेम-कुशल तथा सही-सलामत, ये दो शब्द ऐसे हैं जो क्रमशः हिन्दू और मुसलमानों में ज्यादा कहे जाते हैं। दोनों का अर्थ एक है। 'क्षेम' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है शांति, कल्याण एवं प्रसन्नता। 'कुशल' शब्द भी संस्कृत भाषा का ही है। अनुमान है कि पुराकाल में 'कुश' नाम की घास लाने वाले को कुशल कहा जाता था। यज्ञादि धार्मिक कार्यों में कुश-घास का बहुत प्रयोग होता था। अतएव जो

कुश-घास लाता था उसे कुशल कहा जाने लगा। कुश-घास को उखाड़कर लाना पड़ता था। उसके पत्ते धारदार होने से उनसे हाथ कट जाने का भय रहता है। अतएव जो बिना परेशानी के कुश-घास ले आये उसे प्रवीण भी माना जाने लगा। इसलिए कुशल का अर्थ पहले कुश लाने वाला हुआ, फिर पीछे प्रवीण एवं चतुर हुआ। कुश-घास मांगलिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए लायी जाती है इसलिए 'कुशल' शब्द मंगल एवं कल्याण अर्थ प्रकट करने वाला हो गया। इस प्रकार क्षेमकुशल के अभिप्राय सुरक्षा, कल्याण, शांति आदि होते हैं। इसी प्रकार सहीसलामत जिसका प्रयोग प्रायः उर्दू भाषा वाले करते हैं उसके अर्थ निरोग, निर्दोष, निरापद, सुरक्षित आदि होते है।

यहां क्षेमकुशल तथा सहीसलामत का अर्थ है निर्भयता एवं आत्मशांति। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जिस माया में रात-दिन लिपटा है उसने किसको निर्भयता दी है, किसको शांति दी है। जीवन की उच्चता है निर्भयता एवं शांति। निर्भयता में शांति है और शांति में निर्भयता। जीवन का सच्चा सुख इसी में है। वर्तमान और भविष्य के लिए यही सुरक्षित पथ है। परन्तु माया के द्वारा यह उच्च स्थिति कहां मिल सकती है! बल्कि माया के कारण जीव इस दशा से दूर बना रहता है। यद्यपि इस पूरे कहरा में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न उसके पर्यायवाची शब्द का ही, परन्तु पूरा कहरा उसी को केन्द्र बनाकर कहा गया है।

माया का सूक्ष्म और मौलिक स्वरूप है जो कुछ निजात्मा से भिन्न है उसका 'मोह' और माया का दूसरा अर्थ है संसार के प्राणी-पदार्थ एवं स्थूल जगत। माया का सूक्ष्म स्वरूप मोह ही के पर्याय वासना, कामना, राग, आसक्ति आदि हैं। मुख्य माया यही सब हैं। यदि ये न हों तो संसार एवं संसार के प्राणी-पदार्थ जीव को बांध नहीं सकते। परन्तु इनकी उत्पत्ति संसार के प्राणी-पदार्थों के सम्बन्ध में असावधान होने पर होती है, इसलिए प्राणी-पदार्थों को भी माया कहा जाता है।

"आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो।" माया आती है और जाती है। यह कभी स्थिर नहीं रहती। यहां माया का अर्थ संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि हैं। ये आते हैं तब जीव इनमें विमोहित होकर अहंकार करता है। मन का विमोहन तथा अहंकार मानो जीव का लुट जाना है, और जब ये जाते हैं, अर्थात प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि जब छूटते हैं तब शोक एवं दुख होकर जीव पीड़ित होता है। दुखी होना, पीड़ित होना मानो जीव का लुट जाना है। इसीलिए सद्गुरु ने कहा है—"हे ज्ञानरंग चेतन! तू

कनक-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। ये मिल तथा बिछुड़कर वैसे केवल कष्ट देते हैं जैसे सांप की केंचुली आ तथा जाकर कष्ट देती है।"[1] इस प्रकार यह माया आते-जाते जीव को केवल लूटती है। माया आकर हर्ष का फुलावा देती है तथा जाकर शोक का पचकाव देती है। इन मायाजनित हर्ष-शोक के द्वंद्वों में उलझे रहना ही तो जीव का लुट जाना है। यह माया जीव का 'सर्वतंग' छीन लेती है। 'सर्व' का अर्थ सब है, 'तंग' का अर्थ चुस्त तथा कसा हुआ है। यहां सर्वतंग का अर्थ है व्यवस्था। तात्पर्य है कि माया जीव की सारी शांति-व्यवस्था ही छीन लेती है। यही उसका सर्वस्व छीन लेना है।

"सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो। कहाँ लो गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो।" साहेब पहले बड़े-बड़े लोगों के नाम गिनाते हैं जैसे सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया, मीरा आदि। उसके बाद कहते हैं कि नाम कहां तक गिनाये जायें, माया ने अनंत करोड़ लोगों को पैदा किया है, परन्तु संसार से एक-एक दिन सब पयान कर गये हैं। सबको माया ने पैदा किया है इस कथन का भाव है कि सबके शरीर वासना तथा भौतिक चीजों से ही बनते हैं, अतएव शरीर-रचना के सूक्ष्म-कारण हों या स्थूल-कारण, वे माया ही हैं। सबका उत्पत्ति-कारण माया है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ पैदा होता है सब मायामय है और उन सबका विनाश है। फिर उनमें रमने से शांति कहां है!

"पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो।" पानी, पवन, आकाश, मिट्टी, आग आदि तत्त्व तो कभी मिटने वाले नहीं हैं। फिर इनको जाने अर्थात मिटने की बात कैसे कही गयी, यह प्रश्न हो सकता है। इस कथन का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है कि इन जड़-तत्त्वों से निर्मित सारे पदार्थ नाशवान हैं। जो कुछ मिट्टी, पानी, आग, हवादि तत्त्वों से बना है वह रहने वाला नहीं है और संसार के सारे निर्माण इन्हीं से हैं। पवन-पानी के साथ यहां आकाश का भी नाम आया है, परन्तु आकाश निष्क्रिय तथा निर्विकार है, अतः इससे कुछ निर्मित नहीं होता, तो इसका क्रिया के रूप में प्रयोग 'जायंगे' क्यों हुआ है? वस्तुतः अन्य तत्त्वों के लपेट में आकाश का नाम भी ले लिया गया है, परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं है। हां, वस्तुओं के निर्माण में उसके बीच में या तत्त्वकणों की संधि में आकाश अपने आप

---

1. कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुलेहरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥ साखी 148॥

रहता है। अतएव वस्तुओं के परिवर्तन में आकाश में परिवर्तन-जैसा लगता है, अन्यथा आकाश कोई अणुरूप द्रव्य न होने से उसमें कोई विकार नहीं है।

इसके साथ कहा गया है "चन्द्र जायँगे सूरा हो।" चांद और सूरज भी चले जायेंगे। उगने-डूबने को लिया जाये तो वे मानो नित्य आते-जाते ही हैं। वैसे ये अनादि-अनंत पदार्थ हैं, परन्तु गतिशीलता तो सभी भौतिक क्षेत्रों में है।

"ये भी जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो।" ये भी और वो भी का तात्पर्य है सब लोग। जो कोई संसार में आया है उसे यहां से जाना है। न यहां रंक रह सकता है और न राजा। परन्तु मनुष्यों की असफलता यह है कि उनके मन में संतोष नहीं आता। "परत न काहू के पूरा हो।" यह बड़ा मार्मिक वचन है। 'पूरा' का अर्थ है सन्तोष। किसी को सन्तोष नहीं होता है। निर्धन असंतुष्ट है, धनवान असंतुष्ट है, अपढ़ असंतुष्ट है, विद्वान असंतुष्ट है, तिरस्कृत असंतुष्ट है, सम्मानित असंतुष्ट है, अज्ञानी असंतुष्ट है, तथाकथित ज्ञानी असंतुष्ट है, गृहस्थ असंतुष्ट है तथा वेषधारी असंतुष्ट है। कहां तक गिनाया जाये "परत न काहू के पूरा हो।" किसी के मन में संतोष नहीं आ रहा है। वस्तुतः संतुष्ट वही होता है जिसने माया की इच्छा का त्याग कर दिया है।

"कुशल कहत कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो।" संसार के लोग माया की उपलब्धि में ही अपना कुशल-मंगल एवं सही-सलामत मानते हैं। प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा मिल जायें तो लोग समझते हैं कि हमारा कुशल-मंगल हो गया। संसार के लोग दुनियवी चीजों को पाकर फूले-फूले घूमते हैं और अपने आप को उसी में कृतकृत्य मानते हैं। साहेब कहते हैं कि यह तुम्हारी मायिक कुशलता ही मानो काल की फांसी है। तुम माया के पदार्थों की प्राप्ति में फूलते हो तो मानो तुम्हें काल फांसी पर लटका देता है। माया के फुलाव में रहने वाले आदमी का मन स्थिर नहीं रह सकता। यह अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। माया का फुलाव ही तो जीव को नरक में डुबाता है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "आनन्द आनन्द सब कहै, आनन्द जीव को काल। पूरन परख प्रकाश भौ, शरण कबीर दयाल॥" यह तुम्हारा मायिक आनंद ही तुम्हें अपने आत्मज्ञान, आत्मसंयम एवं आत्मस्थिति से गिरा देता है। इसलिए यह सांसारिक आनन्द तुम्हारे लिए काल द्वारा दी गयी फांसी है।

लोग एक दूसरे से मिलते हैं, अभिवादन-प्रत्याभिवादन करते हैं और कुशल-मंगल पूछते हैं और एक दूसरे से यही कहते हैं कि कुशल-मंगल है,

चकाचक है। परन्तु यह सब तो एक लोकाचार है, शिष्टाचार है। किसी के कुशल पूछने पर कैसे अपना दुखड़ा रोने लग जाये! वहां कुशल पूछना भी एक शिष्टाचार है, तथा शिष्टाचार में 'कुशल है' कहकर उत्तर देना उचित है। परन्तु जब तक मनुष्य का मन सारी मोह-ममता, इच्छा-कामना को छोड़कर निर्भय, निष्काम एवं हर्ष-शोक से परे नहीं हो जाता है तब तक कहां कुशल-मंगल है? नहीं ज्यादा तो इस सन्मार्ग पर लगना भी कुशल-मंगल की शुरुआत है। परन्तु जो माया में ही उन्मत्त होकर कल्याण-मार्ग से दूर है उसका कहां कुशल-मंगल है!

"कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो।" सद्गुरु कहते हैं कि सारा संसार नाशवान है, सब कुछ विनष्ट होगा, परन्तु राम नहीं विनष्ट होगा, क्योंकि वह अविनाशी है। वह सदैव रहेगा। अब इन दो बातों पर थोड़ा विचार कर लें—"सारी दुनिया बिनसे" और "रहे राम अविनाशी"। यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड कभी एक साथ सर्वथा नष्ट हो जायेगा, ऐसी बात नहीं है। यहां पौराणिक प्रलय की भावना का वर्णन नहीं है। यदि सारे जड़ तत्त्व अपनी क्रिया को छोड़कर स्थिर हो जायें तो निश्चित ही सब कुछ का प्रलय जो जाये। परन्तु सारे जड़तत्त्वों के कण सब समय क्रियाशील रहते हैं। यह उनका अनादि-अनंत स्वभाव है। अतएव सारे संसार का न एक साथ निर्माण होता है, और न एक साथ सबका विनाश हो सकता है। परन्तु इसके साथ यह भी परम सत्य है कि सारे ब्रह्मांड में सब समय निरन्तर क्रिया होती रहती है। यह क्रिया कभी रुक नहीं सकती। जड़तत्त्वों का स्वभाव है गतिशीलता और गतिशीलता ही जड़तत्त्वों की सम्पत्ति है। इसलिए संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन में एक दूसरे पदार्थों की अपेक्षा बहुत अन्तर है। जैसे एक फूटी ककड़ी, एक पका कुम्हड़ा तथा एक हीरा पर विचार करें। फूटी ककड़ी चार घंटे में सड़ने लगती है, पका कुम्हड़ा छह महीने के बाद भी स्वादिष्ट लगता है और हीरा में परिर्वतन इतनी मंथर गति से होता है कि उसके विनष्ट होने के भविष्यकाल का अनुमान पदार्थ विज्ञानी ही कर सकते हैं। इतना परम सत्य है कि समस्त भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील है।

वस्तुतः जिस दुनिया से हमारा लगाव है वह व्यक्तिगत है। वह हमारे माने हुए प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि का संयोग है जिससे हमारा ममताजनित सम्बन्ध है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! जो तुम्हारा माना हुआ संसार है वह सब-का-सब नष्ट होगा, इसलिए उसका मोह छोड़ो! और ध्यान दो राम

पर, जो कभी नहीं मिटेगा, क्योंकि वह अविनाशी है। तुम शरीर और अपने माने हुए संसार के राग में चिपककर तृष्णा में भटकते हो, जो न स्थिर है और न तुम्हारे साथ, परन्तु उस राम में नहीं रमते जो न कभी मिटता है और न तुमसे कभी अलग होता है। ध्यान दो! तुम्हारे पिता, पितामह एवं परपितामह की दुनिया कहां रह गयी! तुम्हारे बचपन की दुनिया आज नहीं है। हमारी मानी हुई दुनिया तो क्षण-क्षण मिट रही है और हमसे छूट रही है। परन्तु राम कभी न मिटेगा, न छूटेगा, क्योंकि वह तो मेरी आत्मा है, वह मेरी चेतना है, मेरा चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अनिश्चित को छोड़कर निश्चित को पकड़ें। माया अनिश्चित है और राम निश्चित है। माया जड़ है और राम चेतन है। माया पर है और राम स्व है। सद्गुरु हमें प्रेरित करते हैं कि हे अभागे! तेरी मानी हुई दुनिया नष्ट हो जायेगी और तेरी सारी माया मिट जायेगी, परन्तु अविनाशी राम जो तेरा निजस्वरूप है वह कभी नहीं मिटेगा। अतः तू यदि अपना कुशल-मंगल तथा सही-सलामत चाहता है तो माया-मोह को छोड़कर स्वरूपराम में मग्न हो जा!

देह की क्षणभंगुरता

कहरा-9

ऐसनि देह निरालप बौरे, मुवल छुवे नहिं कोई हो॥ 1॥
डण्डवा की डोरिया तोरि लराइनि, जो कोटिन धन होई हो॥ 2॥
उर्ध निश्वासा उपजि तरासा, हँकराइनि परिवारा हो॥ 3॥
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो॥ 4॥
चन्दन चीर चतुर सब लेपैं, गरे गजमुक्ता के हारा हो॥ 5॥
चौसठ गीध मुये तन लूटै, जम्बुकन वोद्र बिदारा हो॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्ञान हीन मति हीना हो॥ 7॥
एक एक दिना याहि गति सबकी, कहा राव कहा दीना हो॥ 8॥

शब्दार्थ—निरालप=अत्यन्त अल्पकाल रहने वाला। डण्डवा=कमर। डोरिया=करधनी। लराइनि=लड़ियां। उर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर। निश्वास=बाहर निकलने वाला श्वास। तरासा=त्रास, दुख। चीर=वस्त्र। चौसठ=चील्ह। गीध=गिद्ध। जम्बुकन=सियारों का समूह। राव=राजा।

भावार्थ—हे पगले! यह शरीर इतना क्षणभंगुर एवं गंदा है कि मर जाने पर इसे कोई छूना भी नहीं चाहता॥ 1॥ चाहे तुम करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी हो, परन्तु मरते समय लोग तुम्हारी कमर की करधनी भी तोड़

लेंगे॥ 2॥ जब श्वास ऊपर चलने लगता है तब श्वास लेने में कष्ट होने लगता है और तब उसे यह विश्वास हो जाता है कि मेरा शरीर नहीं रह जायेगा। उसे सब कुछ छूटने का भय सवार हो जाता है। वह तुरन्त अपने परिवार वालों को इसलिए बुलवाता है कि अब अंत में उन्हें देख लें तथा जिम्मेदारी सौंप दें॥ 3॥ परन्तु श्वास टूट जाने पर जो कोई आता है उसे जल्दी श्मशान ले चलने की राय देता है। वह तब एक पल भी अपने माने हुए घर में रहने नहीं पाता॥ 4॥ अपने आप को बुद्धिमान समझने वाले जो लोग अपने शरीर में चंदन का लेपन करते थे, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनते थे तथा गले में गजमुक्ता आदि रत्नों की मालाएं पहनते थे, उनका शरीर कहीं जंगल आदि में छूट गया तो उसे चील और गिद्ध नोच-नोचकर खाते हैं और गीदड़ उनका पेट फाड़ते हैं॥ 5-6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो लोग ज्ञान से रहित तथा विवेकहीन हैं वे इस अपने शरीर की संभावित विनाशलीला को नहीं समझ पाते। परन्तु एक-एक दिन सबके शरीर की यही दशा होती है वह चाहे राजा हो और चाहे रंक॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह शरीर निरा अल्प है अर्थात अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसका दूसरा दोष है कि यह अत्यन्त घृणास्पद है। मर जाने पर अपनी इच्छा से तो इसे कोई छूना नहीं चाहता। परन्तु मोहवश या लोक दिखावा को लेकर लोग छूते या अंतिम दर्शन के लिए आते हैं। अभिमानी जीव माने रहता है कि शरीर बहुत दिनों तक रहेगा। वह सोचता है कि दूसरे लोग मर जायें तो मर जायें, मैं अभी नहीं मरूँगा, परन्तु वह क्षण-पल में काल का चबैना हो जाता है। शरीर गंदा तो ऐसा है कि इसे सहज समझा जा सकता है कि इसमें क्या रखा है! हड्डी, मांस, मल, मूत्र, चाम—सब कुछ तो गंदगी का रूप है।

जब आदमी मर जाता है तब चाहे वह करोड़पति रहा हो, लोग उसकी कमर की करधनी भी तोड़ लेते हैं। यह संसार की कथा है। सब समझते हैं कि लाश के साथ चाहे कोई दस किलो सोना ही बांध दे तो क्या वह उस जीव के साथ जाने वाला है! जीव जब शरीर को छोड़कर चला जाता है तब उसके साथ तृण भी नहीं जाता।

शरीर छूटने के समय प्रायः लोगों का श्वास ऊर्ध्व गति से चलने लगता है। उस समय उसे श्वास लेने में कष्ट होने लगता है। उसे अनुभव होने लगता है कि अब शरीर नहीं रह जायेगा। जिसकी हृदयगति रुक जाती है उसकी मृत्यु तो अचानक होती है। वह तो किसी से कुछ भी बात नहीं कर पाता।

परन्तु जिसका शरीर धीरे से छूटता है, जिसे कुछ सांस-कष्ट आदि होना शुरू होकर मृत होने के लक्षण धीरे-धीरे आते हैं, उसके मन के सामने एक दूसरी दुनिया आ जाती है। आप जरा गहराई से सोचें कि आपको कोई यह विश्वास दिला दे कि आप कल तक मर जायेंगे तो आपके मन के सामने यह संसार दूसरी तरह लगेगा। यह पृथ्वी, यह चांद, यह सूरज, ये सितारे, ये प्राणी-पदार्थ आपको दूसरी तरह प्रतीत होंगे। विवेकवान का अनुभव ऐसी अवस्था में एक भिन्न तरह का होगा तथा एक मोही का अनुभव बिलकुल भिन्न तरह का होगा। विवेकवान संसार को स्वप्नवत देखेगा और उससे अपने मन को समेटकर अपने स्वरूप में स्थित होगा, परन्तु मोहग्रस्त आदमी व्याकुल हो जायेगा। उसके मन में पीड़ा होगी। वह सोचेगा 'हाय! मेरे प्यारे सम्बन्धी एवं धन सभी छूट रहे हैं।' उसकी शारीरिक पीड़ा चाहे कम हो, परन्तु मानसिक पीड़ा बहुत होगी, परन्तु विवेकवान को प्रारब्धवशात शरीर-पीड़ा चाहे अधिक हो, परन्तु उसे मानसिक-पीड़ा नहीं होगी।

मोही आदमी स्वजनों को बुलाता है। उन्हें मरते समय देखना चाहता है। वह अपने बाल-बच्चों को सयानों के हाथों में सौंपता है और उन सबसे बिछुड़ने की बातें याद करके रोता है। परन्तु मौत निर्दय है। वह छोड़ने वाली नहीं है। वह उसे मार लेती है। मर जाने के बाद चाहे राजा हो और चाहे रंक, उसकी लाश लोग जल्दी गाड़ना, जलाना या फेंक देना चाहते हैं। सब का नाता जीव के रहते तक है। उसके निकल जाने पर कोई ऐसा माई का लाल नहीं है जो उसे रख सके। घी, दूध, दही, मेवे, फल, अन्न-पानादि से सेवित तथा वस्त्रालंकारों से मंडित शरीर क्षण-पल में राख की ढेरी, मछलियों, मेढकों, चील्ह-गिद्धों एवं कीड़ों-मकोड़ों का भोजन हो जाता है।

मोह में मूढ़ आदमी को, यह सब अपने शरीर का एक दिन हो जायेगा, इसका ख्याल भी नहीं रहता। वह तो सब समय प्रमाद में जीता है। इस पानी के बुल्ले शरीर को वह अजर-अमर माने बैठा रहता है। परतु राजा हो या रंक, एक-एक दिन यही दशा सबकी होती है। ज्ञानी संसार को जीतकर जाता है और अज्ञानी संसार से हारकर जाता है। ज्ञानी शरीर छोड़ने के पहले ही इसकी आसक्ति छोड़ देता है तथा अज्ञानी आसक्ति में चिपका-चिपका मरता है और उसके वर्तमान तथा भविष्य अंधकारमय होते हैं, परतु ज्ञानी का सब मंगलमय होता है। ज्ञानी संसार और शरीर दोनों छोड़कर जीता है। अर्थात वह सबकी आसक्ति को त्यागकर सुखी हो जाता है। आसक्ति ही तो कांटा है। जिसके मन से यह कांटा निकल गया वह सदा सुखी है। आसक्तिवश ही

संसार में अपने-पराये का झमेला है। जिसके मन से आसिक्तरूपी भवव्याधि पूर्णतया निकल गयी है, उसकी दृष्टि में कुछ अपना नहीं रह गया। जिसके ख्याल से संसार में कुछ अपना नहीं है, वह परम सुखी है।

आत्मतत्त्व विवेचन

कहरा-10

हौं सबहिन में हौं ना हौं, मोहि बिलग बिलग बिलगाइल हो॥ 1॥
ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो॥ 2॥
एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो॥ 3॥
एक समान कोई समुझत नाहीं, जाते जरा मरण भ्रम जाई हो॥ 4॥
रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि पुरुष समताई हो॥ 5॥
हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो॥ 6॥
त्रिविधि रहौं सभनि माँ बरतों, नाम मोर रमुराई हो॥ 7॥
पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो॥ 8॥
जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो॥ 9॥
गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो॥ 10॥
अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो॥ 11॥
सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो॥ 12॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। हौं ना हौं=मैं देह नहीं हूं, अहंकार से रहित हूं। ओढ़न=ओढ़ने का वस्त्र, आवरण। पिछौरा=चादर, अविद्या। झाँई=प्रतिबिम्ब। चिलकाई=चटक-मटक, जवानी। त्रिविधि=जागृति आदि तीन अवस्थाएं। दुनियाई=संसारी। जोलहा=मन। दश ठाँई=अनेक प्रकार, अनेक जगह। हीरा=जीव। भाष्यो=कहा। फिटकी=फिटकरी, एक मिश्र खनिज पदार्थ जो स्फटिक की तरह सफेद होता है और दवा, रंगाई आदि के काम आता है।

भावार्थ—सभी शरीरों में विद्यमान जो मैं-तत्त्व है वही व्यक्ति का निज-स्वरूप है, अतएव मैं सभी देहों में रहने वाला शुद्ध चेतन हूं, परन्तु मैं देहादि विजाति पदार्थों का अहं-स्वरूप नहीं हूं, अर्थात मैं देहादि नहीं हूं। विवेकियों ने जड़-चेतन अलग-अलग बताया है तथा सभी शरीरों में निवास करने वाले चेतनों को भी एक दूसरे से अलग-अलग कहा है॥ 1॥ मेरा ओढ़ना मानो एक अविद्या रूपी चादर है, अर्थात मैं स्वयं अविद्या से ढका हूं। इसी अविद्या से लोग कहते हैं कि जड़-चेतन सत्ता अभेद है अथवा एक ही चेतन सत्ता

है॥ 2॥ वे प्रमाण देते हैं कि एक ही चेतन सभी शरीरों में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक घटों के जल में एक साथ प्रतिबिम्बित होता है॥ 3॥ वस्तुतः सब चेतन एक नहीं, किन्तु एक समान है और सब अलग-अलग हैं, परन्तु ऐसा कोई समझता नहीं है। ऐसा समझने से ही बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भ्रम दूर होगा। मोक्ष द्वैत में होता है, अद्वैत में नहीं॥ 4॥ शुद्ध चेतनस्वरूप में न रात है न दिन, उसमें स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं है, वह लिंगरहित सब में समान है॥ 5॥ मैं न तो बालक हूं न बूढ़ा हूं और न मेरे में चमक-दमक वाली जवानी ही है॥ 6॥ मैं तो बालक, युवा तथा वृद्ध तीनों अवस्थाओं में वर्तमान करने वाला तीनों से अलग हूं, परन्तु सभी अवस्थाओं में रमण करने से मेरा नाम रामराजा है॥ 7॥ मैं न तो किसी के भेजने से कहीं जाता हूं और न किसी के लाने से कहीं आता हूं, अर्थात मेरे ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं है कि मुझे किसी बात के लिए विवश कर सके। मैं संसार में सहजरूप से रहता हूं॥ 8॥ जैसे कोई अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना का भेद न जानता हो और उलटा-पलटा ताना तनकर दस जगह फाड़कर बुनता हो, वैसे यह मन जीव के आत्मस्वरूप को न जानकर उसे दस जगह उलझाकर रखता है। अर्थात जीव को अनेकों जगह फंसा देता है॥ 9॥ विभिन्न विचार के गुरुओं के प्रभाव में आकर मनुष्य उनके उपदेशों को सुनते हैं और जहां तक जो समझते हैं उनके अनुसार मानते हैं और चलते हैं। बिरला मनुष्य निजस्वरूप का ठीक बोध पाता है॥ 10॥ मन की अनंत करोड़ मान्यताओं ने जीवरूपी हीरे को बेध डाला है, इसलिए उसकी कीमत फिटकरी से भी कम हो गयी है। हीरा फिटकरी के दाम पर भी नहीं बिक रहा है। चेतन मनुष्य पत्थर के देवता के समान भी इज्जत नहीं पा रहा है॥ 11॥ सुर, नर तथा मुनिजन जिस सत्यस्वरूप की खोज में निरंतर श्रमशील हैं, कबीर ने उसे कुछ-कुछ पा लिया है॥ 12॥

व्याख्या—यह पूरा कहरा आध्यात्मिक तत्त्व-विवेचन से भरा है। आध्यात्मिक तत्त्व में 'मैं' ही सार तत्त्व है। मनुष्य का 'मैं' तत्त्व ही तो सारे दर्शनों का केन्द्रबिन्दु है। मनुष्य का 'मैं' तत्त्व न होता तो संसार में ज्ञान-विज्ञान की कोई खोज ही न होती। इस कहरा की पहली पंक्ति में पहला वाक्यांश है "हौं सबहिन में" इसका सरल अर्थ है कि 'मैं सब में हूं'। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाये कि मैं जड़-चेतन, पृथ्वी-पहाड़, चांद-सूर्य एवं समस्त विश्व-ब्रह्मांड में हूं, तो यह एक बहुत बड़ी अतिशयोक्ति होगी और मन का बहुत बड़ा भ्रम होगा। यह किसी का अपना अनुभव नहीं है कि मैं संसार

के सारे पदार्थों में व्याप्त हूं। अतएव 'मैं सब में हूं' इसका तात्पर्य यह है कि सभी देहों में 'मैं'-'मैं' स्वीकारने एवं कहने वाले जीव हैं, चेतन हैं, आत्मा हैं, वही प्रति शरीर में 'मैं' हूं। सब में 'मैंपन' तो समान है परन्तु 'मैं'-'मैं' कहने वाले सब देहों के जीव अलग-अलग हैं। इस जीव को ही चेतन एवं आत्मा कहते हैं। मानो दस आदमी बैठे हों, तो तुम देखोगे कि दसों में 'मैं' कहने वाले जीव एवं आत्मा विद्यमान हैं। सब कहते हैं कि मैं खाता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह बात मानूंगा, मैं यह बात नहीं मानूंगा इत्यादि। इस प्रकार सबके भीतर 'मैं' तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा अलग है। अर्थात सब में 'मैंपन' एक है, परन्तु व्यक्तित्व सबका अलग-अलग है। अतएव ज्ञानी कहता है कि 'मैंपन' तो सब में है। अर्थात सभी शरीरों में अलग-अलग आत्म-अस्तित्व है।

इस पंक्ति का दूसरा वाक्यांश है "हौं ना हौं" जिसका सरल अर्थ है 'मैं नहीं हूं' इसका अभिप्राय यह है कि मैं कोई विजाति तत्त्व देहादि नहीं हूं। न मैं देह हूं, न मैं प्राण हूं, न मैं मन हूं, न मैं बुद्धि हूं, न मैं विश्व-ब्रह्मांड हूं। यह वाक्यांश सांख्यकारिका के इस वाक्यांश की याद कराता है, "न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं"[1] इस निषेधात्मक स्वर में सारे विजाति तत्त्वों एवं क्रियाओं को अस्वीकार कर शुद्ध चेतन पुरुष की स्थिति बतायी गयी है। इस पूरी कारिका का भाव है—"इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से यह निश्चित हो जाता है कि न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। ऐसी स्थिति में कुछ बाकी नहीं रहता, यहां भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध 'केवल' ज्ञान उत्पन्न होता है।"[2]

'मैं' के दो रूप हैं। एक शुद्ध आध्यात्मिक एवं परमार्थ रूप और दूसरा मायिक। 'हौं सबहिन में' कहकर मैं का पारमार्थिक रूप बताया गया है। 'सबहिन में' को तो इतना ही समझ लीजिए कि सभी देहों में अलग-अलग चेतन जीव हैं। जैसे मैं हूं, वैसे अन्य देहों में भी मैं-स्वरूप चेतन जीव हैं। "हौं सबहिन में हौं ना हौं" इस वाक्यांश में इतना ही समझिए कि मैं हूं भी और नहीं भी। अर्थात चेतनरूप से मैं हूं और देहरूप से मैं नहीं हूं। जिस प्रकार घटरूप से घट है, किन्तु पटरूप से घट नहीं है। यदि पट घट में रखा है तो पट को यह न मान लेना चाहिए कि वह घट है। वह तो उस समय घट में केवल रखा है न कि पट घट है। इसी प्रकार जीव केवल शरीर में है। यह

---

1. नास्मि न मे नाहम्।
2. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका, 64॥

न मान लेना चाहिए कि जीव शरीर है। अतएव जीव चेतनरूप में है, देहरूप में नहीं है। मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्यता है और परम तथ्य है, किन्तु मैं देह हूं, अमुक अवस्था एवं रंगरूप वाला हूं, अमुक जाति-वर्ण वाला हूं—यह मानना मायिक है। यह अहंकारपूर्ण है। परमार्थ की भाषा में जो अपना नहीं है उसको अपना मानना अहंकार है और परमार्थ की दृष्टि से जीव के अलावा जीव का कुछ भी नहीं है। मेरी चेतना के अलावा मेरा कुछ नहीं है। अतएव यदि व्यक्ति अपनी चेतना के अलावा किसी भी वस्तु को मैं तथा मेरी मानता है तो यह उसका अहंकार है, मायिक है। किन्तु मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्य है एवं अटल सिद्धान्त है। इस प्रकार मैं शुद्ध चेतन हूं, किन्तु मैं देह नहीं हूं।

"मोहि बिलग बिलग बिलगाइल हो।" विवेकियों ने मुझे अलग-अलग समझा है। हर जीव दूसरे से अलग है। यदि सब जीवों को एक माना जाये तो यह असंभव एवं व्याघात-दोष से दूषित होगा। 'सब' और 'एक' यही कथन परस्पर विरोधी है। सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जीव असंख्य हैं और एक दूसरे से अलग हैं। अलग-अलग होने से ही किसी का अभी जन्म हो रहा है, कोई शिशु अवस्था में है, कोई बालक, कोई तरुण, कोई वृद्ध एवं कोई जरजर अवस्था में है, कोई मर रहा है, कोई बद्ध है तथा कोई मुक्त है। इस प्रत्यक्ष अनुभव का अपलाप करना ज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा भ्रम पैदा करना है। जो जैसा हो उसे वैसा स्वीकारना ही सच्चा ज्ञान है। इसके अलावा चेतन जड़ से सर्वथा अलग है ही। इस प्रकार जड़-चेतन दोनों मौलिक और भिन्न-भिन्न हैं। न जड़ से चेतन पैदा हुए न चेतन से जड़, और न दोनों कभी एक हो सकते हैं। सब चेतन जीव भी एक दूसरे से सर्वथा अलग-अलग हैं। सभी चेतनों का ज्ञान गुण एक है, परन्तु सबका व्यक्तित्व सर्वथा अलग-अलग है।

"ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो।" यह अविद्या रूपी चद्दर मानो मेरा एक ओढ़ना है, आवरण है। इसी आवरण के नाते जड़-चेतन की एकता प्रतीत होती है। महर्षि पतंजलि ने अविद्या का स्वरूप बताते हुए लिखा है—"अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख तथा अनात्म (जड़) में आत्म (चेतन) बुद्धि होना अविद्या है।"[1] संक्षिप्त में कहें तो जड़-चेतन एक मान लेना अविद्या है। अविद्या में सारे काले अक्षर भैंस बराबर लगते हैं, परन्तु विद्या में अक्षरों, शब्दों एवं वाक्यों के विभाजन तथा उनके

---

1. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन 2/5)

अर्थ अलग-अलग लगते हैं। बादलों से ढकी हुई भादों की घोर अंधियारी रात में सब काला दिखता है, परन्तु सूर्य उगने पर सब कुछ अलग-अलग दिखता है। अतएव जड़-चेतन में विवेक न कर पाना अविद्या है और जड़-चेतन अलग-अलग समझ लेना विद्या है, ज्ञान है। यह अविद्या ही जीव का ओढ़न है, पिछौरा एवं चादर है। यही जीव के ज्ञान को ढांकती है। इस चादर को फाड़ फेंकना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

"एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो।" यह मान्यता भी एक अविद्या ही है कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब जैसे असंख्य घड़ों के जल में एक साथ ही पड़ते हैं, वैसे एक ही ब्रह्म के चेतनाभास सभी देहों में पड़ते हैं। यह अविद्या क्यों है, इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो यह है कि एकदेशी पदार्थ का ही दूसरे देश में रहे हुए पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है, सर्वदेशी पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। चन्द्रमा एकदेशी है। उससे और घटों में देश की दूरी है, तब जाकर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब अनेक घटजलों में पड़ते हैं। यदि चन्द्रमा सर्वव्यापक होता, तो किसी घटजल से उसकी दूरी न होने से तथा उसमें व्यापक होने से प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव ही नहीं होता। जिस ब्रह्म के लिए चन्द्रमा का उदाहरण दिया जाता है उस ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक बताया जाता है, और यहां तक भी बताया जाता है कि उसके अलावा कुछ है ही नहीं, फिर उसके प्रतिबिम्ब किसमें और कैसे पड़ सकते हैं? दूसरी बात यह है कि प्रतिबिम्ब जड़ होते हैं, परन्तु सभी शरीरों में जीव चेतन हैं। बिम्ब गंदा होने से प्रतिबिम्ब गंदे होते हैं और स्वच्छ होने से स्वच्छ। फिर शुद्ध ब्रह्म के प्रतिबिम्ब जब सब जीव हैं तब वे बुरे आचरण वाले क्यों हो जाते हैं! जिसको चन्द्रवत बिम्ब कहते हैं उस ब्रह्म का कहीं पता नहीं चलता और जिनको प्रतिबिम्ब कहते हैं वे जीव ही ब्रह्म की व्याख्या कर रहे हैं। आज तक सारे ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण जीव ने ही किया है जिसे वे प्रतिबिम्ब कहते हैं और जिसे बिम्ब कहते हैं उसका आज तक पता-लता नहीं है। अतएव प्रतिबिम्बवाद स्वरूप-अज्ञान का फल है। जीव अपने पूर्ण स्वरूप के अज्ञान से स्वयं को प्रतिबिम्ब मानता है तथा जो केवल कल्पना का विषय है उसे परम श्रेष्ठ मानता है।

"एक समान कोइ समुझत नाहीं, जाते जरा मरण भ्रम जाई हो।" कोई यह नहीं समझता कि सब जीव एक नहीं, किन्तु एक समान हैं, जिससे जरा-मरण और उसके मूल में रहे हुए भ्रम का अन्त हो। जन्म, जरा एवं मृत्यु आदि के चक्कर का मूल है विषयों में सुख-भ्रम और विषयों में सुख-भ्रम का भी मूल

है देह को अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम। इन सारे भ्रमों का अन्त तथा जन्मादि चक्कर का अन्त होता है स्वरूपज्ञान में। और उसके साथ यह समझना कि मेरे ही समान अन्य जीव भी हैं जिनके साथ मुझे करुणा का व्यवहार करना चाहिए। निजस्वरूप के ज्ञान से देहाभिमान तथा विषयासक्ति नष्ट होते हैं और अपने समान अन्य जीवों को समझने से उनके साथ प्रेम, करुणा एवं दया का व्यवहार होता है। यदि जीव एक ही होता तो न व्यवहार होता और न करुणा, दयादि गुणों की आवश्यकता होती। जीव नाना हैं, इसलिए उन्हें अपने समान मानकर अहिंसा, करुणादि का सुन्दर व्यवहार करना चाहिए।

"रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि पुरुष समताई हो। हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो।" निज चेतनस्वरूप में रात-दिन, स्त्री-पुरुष, बालक, जवानी एवं बुढ़ापा का भेद आदि नहीं होते। रात और दिन इन्द्रियजन्य अनुभव है। शुद्ध चेतन में, जहां देह और मन दोनों नहीं हैं, देह तथा मन न होने से वहां मानो पूरा संसार ही नहीं है, फिर वहां रात-दिन के भेद का क्या प्रश्न है! गीताकार इसके लिए ठीक ही कहते हैं—"न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा चमकता है और न वहां अग्नि ही चमकती है, जिसे प्राप्तकर पुनः उससे लौटना नहीं होता वह मेरा धाम है।"[1] मेरा धाम, अपना धाम, जीव का परमधाम उसका अपना चेतनस्वरूप ही है। जो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसका रैन-दिवस आदि प्राकृतिक घटनाओं से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। शुद्ध चेतनस्वरूप में प्रकृति की गंध भी नहीं है। बोधवान देह में रहते-रहते सांसारिकता से अपने आप को ऊपर उठा लेते हैं। वे देखते हुए मानो नहीं देखते, सुनते हुए मानो नहीं सुनते, खाते हुए मानो नहीं खाते, क्योंकि वे सबसे अनासक्त रहते हैं। वे निरर्थक तथा अनर्थक क्रिया तो करते ही नहीं, केवल उतने ही कर्म करते हैं जिनके बिना जीवन का निर्वाह न चले।

वे समझते हैं कि स्त्री-पुरुष शरीर के लिंग हैं तथा बालपन, जवानी और बुढ़ापा शरीर की अवस्थाएं हैं। मेरे चेतनस्वरूप से इनसे कोई मतलब नहीं। मेरी आत्मा तो अ-लिंगी तथा सर्व अवस्थातीत है। इसलिए वे चमक-दमक में नहीं भूलते। न वे अपने माने हुए शरीर में मोहते हैं और न दूसरे के शरीर

---

1. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ गीता, 15/6॥

में। वे समस्त प्राकृतिक दृश्यों से अतीत अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में सदैव स्थित रहते हैं।

"त्रिविधि रहौं सभनि माँ बरतों, नाम मोर रमुराई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं तीनों पन, तीनों अवस्थाओं तथा उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ स्थितियों, सब में रहता हूं और अनुकूल-प्रतिकूल सभी दशाओं में सम रूप से बरतता हूं, इसलिए मेरा नाम रामराजा है। 'संस्कृत हिन्दी कोश' में वामन शिवराम आप्टे ने राम के इतने शाब्दिक अर्थ किये हैं—1. सुहावना, आनंदप्रद, हर्षदायक, 2. सुन्दर, प्रिय, मनोहर, 3. मलिन, धूमिल, काला तथा 4. श्वेत। परन्तु कबीर साहेब का इष्ट राम निज चेतनस्वरूप है। सब घट में रमने से इस चेतन का नाम सन्तों ने राम रखा है। यह चेतन ही परम रमणीय है। इसके न रहने से कोई शरीर रमणीय नहीं हो सकता। इसलिए यह चेतन ही राम है और यही सारे ज्ञान-विज्ञान का स्वामी होने से राजा है। अतएव ज्ञानी कहता है मैं ही रामराजा हूं।

"पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं किसी के भेजने से कहीं जाता नहीं और किसी के बुलाने से कहीं आता नहीं। मैं संसार में सहज रूप से रहता हूं। जीव चाहे संस्कारों की बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, उसके ऊपर कोई अन्य कर्ता नहीं है कि वह उसे विवश कर सके। यदि वह कर्मवश है तो अपने बनाये संस्कारों के अनुसार ही उसका गमनागमन होता है और यदि वह मुक्तावस्था में है तो कृतार्थ एवं स्वरूपस्थ है ही। वस्तुतः यह ज्ञानावस्था की बात है। ज्ञानी किसी के अधीन नहीं होता है। वह स्वतंत्र बोधभाव में विराजमान होता है। उसका कोई इष्टानिष्ट नहीं कर सकता।

"जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो।" जो अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना नहीं समझता वह थान को दस जगह खराब करके बुनता है। 'फाटि' कहते हैं फाड़कर, खराब कर। 'दश ठाँई' का मतलब गिनती में दस जगह नहीं, किन्तु उसका लक्षणा अर्थ है बहुत जगह। अर्थात जिसे सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, वह उसे बहुत जगह खराब करके कुछ करता है। यह अविवेकी मन अनाड़ी जुलाहा है। यह जीवन-वस्त्र को जगह-जगह फाड़कर बुनता है। तात्पर्य है कि जीवन जीने का कायदा न जानने से यह मन जीव को दस जगह उलझाकर इसे भव-बन्धनों में डाल देता है। जिसका मन ज्ञानवान है, जो विवेक में जाग्रत है, वह जीवन का वस्त्र सुव्यस्थित बुनता है। वह जीवन के सारे व्यवहार सुलझाकर करता है। वह

अपने आप को कभी उलझाता नहीं।

"गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो।" जिसको जैसा गुरु मिला, उसने उसे जैसा बताया, उसको वैसा निश्चय हुआ। कहा जाता है "पानी की मात्रा के अनुसार मछलियां होती हैं। गड्ढे में छोटी मछलियां हो सकती हैं, नदी में बड़ी तथा समुद्र में सर्वाधिक बड़ी। समुद्र में रहने वाली जैसी मछली गड्ढे तथा नदी में नहीं हो सकती। कुल-परम्परा के अनुसार आचरणों की शुद्धि होती है, और जिसको जैसा गुरु मिलता है उसको वैसी बुद्धि मिलती है।"[1] अतएव जो व्यक्ति जैसे गुरु के प्रभाव में आता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। सच्चा और निष्पक्ष ज्ञान तो किसी बिरले को होता है। गुरु श्रद्धेय हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं, ये सारी बातें ठीक हैं, परन्तु गुरु की परख भी सत्य से होती है। अतएव जो उदार होकर गुरु की बातों पर भी विचार करता है वही सत्य का मोती पाता है। बिना विचार किये गुरु की बात पकड़कर बैठ जाने से काम नहीं बनता। तुम्हें ठीक-ठाक गुरु न मिले हों, तो उनकी बातों में चिपके न रहो, किन्तु स्वतन्त्र विचार करो, और सच्चे गुरु की खोज करो। जो विनम्र गुरुभक्त तथा साथ-साथ निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र चिंतक होता है वही सत्यज्ञान का मोती पाता है और ऐसा आदमी बिरला ही होता है। यही 'जन बिरले सो पाई हो' का अभिप्राय है।

"अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो।" जैसे कोई हीरा को चूर्ण बना दे तो वह फिटकरी के दाम भी न बिके, वैसे जीव को असंख्यों भ्रांत मान्यताओं ने झकझोकर रख दिया है। इसलिए इसने अपने आप को आभास, प्रतिबिम्ब, तुच्छ, किंचिज्ञ, अंश, अल्पज्ञ आदि बड़ी-बड़ी घृणित मान्यताओं से पंकिल कर लिया है। इसलिए इसकी कीमत, इसकी मर्यादा तथा इसकी प्रतिष्ठा लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, धातु आदि के बने जड़ देवी-देवताओं तथा नदी, पेड़, पहाड़ के समान भी नहीं रह गयी है। यह चेतन सम्राट जड़ पेड़-पत्थर के सामने घुटने टेककर उनसे भोग और मोक्ष मांगता है। सद्गुरु का कितना मार्मिक वचन है, यह समझते ही बनता है।

"सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो।" सुर, नर, मुनि अर्थात सभी प्रबुद्ध लोग जिसकी खोज के पीछे पड़े हैं, उसे कबीर ने कुछ-कुछ पा लिया है। 'कबिरन' शब्द बीजक में प्रायः खंडनपरक है, परन्तु

---

1. जल परमाने माछली, कुल परमाने शुद्धि।
   जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि॥

यह कहीं-कहीं पद बैठने के लिए कबीर की जगह पर प्रयुक्त हो सकता है। यहां ऐसे लगता है। इस पंक्ति में "खोज परे हैं" और 'कछु-कछु' मार्मिक शब्द हैं। 'खोज परे हैं' में सुर, नर तथा मुनियों के लिए व्यंग्य है कि वे परमतत्त्व की खोज में पड़े हैं। वस्तुतः वह बाहर खोजने की वस्तु नहीं है, किन्तु आत्मशोधन की वस्तु है। परमतत्त्व निजात्मबोध ही है। उसको बाहर खोजना नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप समझकर तथा वासना त्यागकर स्थित होना है। 'कछु कछु कबिरन पाई हो।" में कबीर साहेब की अपनी विनम्रता है। अपनी स्थिति सुदृढ़ होने पर भी विनम्रता की भाषा में यही कहा जाता है कि कुछ-कुछ ठीक है।

विद्या द्वारा अविद्या-माया का विनाश

कहरा-11

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे॥ 1॥
आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥ 2॥
मोरे बाप के दुई मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे॥ 3॥
जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे॥ 4॥
माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगातीगे॥ 5॥
आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे॥ 6॥
जौं लौं श्वास रहे घट भीतर, तौ लौं कुशल परी हैं गे॥ 7॥
कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे॥ 8॥

शब्दार्थ—ननदी=पति की बहन, कुमति। विषम=कठिन, असाधारण, अद्वितीय। सोहागिनि=सुहागिन, सधवा स्त्री, सौभाग्यवती। निन्दले=नींद में ले लेना, बेभान कर देना। खसम=स्वामी, जीव। बाप=अहंकार। मैं=विद्या। जेठानी=अविद्या। रसिक के जग में=संसारी अवस्था। माई=माया। पिता=अहंकार। सरा=चिता। सँगाती=साथी। मन्दिर=शरीर।

भावार्थ—विद्यावृत्ति कहती है कि अगे ननदी कुमति! तू बड़ी एवं अद्वितीय सौभाग्यवती है। तूने संसार के सारे जीवों को मोह की नींद में सुला रखा है॥ 1॥ मैं जब आती हूं तब देखती हूं कि तुम और मेरे स्वामी जीवात्मा एक साथ सोये हुए हैं, अर्थात जीव तुम्हारे पंजे में पड़कर माया-मोह में डूबा है॥ 2॥ मेरे पिता-अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं विद्यावृत्ति हूं और दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति है॥ 3॥ जब मैं ज्यादा सांसारिक अवस्था में थी तभी संसार के लोगों ने ये बातें जान ली थीं कि जीव की अविद्यावृत्ति के पीछे

विद्यावृत्ति उत्पन्न हो गयी है॥ 4॥ मेरे अर्थात विद्यावृत्ति के पैदा होने पर तो जीवन का चित्र ही बदल गया, वह यह हुआ कि मेरे अहंकार-पिता के साथ मेरी माया-माता मर गयी और उसके दूसरे संगी-साथी भी ज्ञान-चिता रचकर उसमें जल मरे॥ 5॥ इस प्रकार माया-माता स्वयं तो मरी ही और भी अपने लोग-कुटुम्ब तथा संगी-साथियों को लेकर मर गयी॥ 6॥ जब तक शरीर में श्वास है तब तक अपना कुशल-मंगल करने का अवसर है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जब श्वास निकल जायेगा तक शरीर आग में जल जायेगा और तब साधना करने का अवसर समाप्त हो जायेगा॥ 8॥

व्याख्या—इस कहरा में ननदी, खसम, बाप, मेहररुआ, जेठानी आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग है। कबीर साहेब अपनी गूढ़-से-गूढ़ बातों को प्रतीकों में कहने में बहुत माहिर हैं। यहां कैसा मार्मिक विचार कैसे साधारण प्रतीकों में कहते हैं और वे कितने सटीक हैं, यह सब सोचते ही बनता है।

इस पूरे कहरा में विद्यावृत्ति का भाषण है। विद्यावृत्ति का तात्पर्य है ज्ञानवृत्ति। वृत्ति कहते हैं मन की अवस्था को और विद्या का अर्थ है ज्ञान। अतएव मन की ज्ञानावस्था ही विद्यावृत्ति है। जब मनुष्य में यह पैदा होती है तब अविद्यावृत्ति की निवृत्ति होने लगती है। अविद्यावृत्ति का अर्थ है मन की अज्ञान अवस्था।

मिथिला-देश में स्त्रियां आपस में बात करते समय 'गे' या 'अगे' का संबोधन करती हैं। वहां की भाषा का प्रभाव इस कहरा की हर पंक्ति में 'गे' को लेकर परिलक्षित होता है। इस पद की पहली पंक्ति है "ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे।" विद्यावृत्ति अविद्यावृत्ति को अपनी ननद कहती है। ननद पति की बहिन को कहा जाता है। बेसमझ ननद भाभी को कष्ट देने के फेर में रहती है। बीजक में तो संशय और कुमति के लिए 'सासु-ननद' एक मुहावरा ही बन गया है। यहां विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति-ननदी! तू बड़ी सौभाग्यवती है। तूने सारे संसार को मोह की नींद में सुला दिया है। यहां ज्ञानवृत्ति कुमति की प्रशंसा करती है, क्योंकि संसार में कुमति का ही बोलबाला है। कुमति को यहां सुहागिन कहा गया है। सुहागिन उस स्त्री को कहते हैं जिसका पति जीवित हो। जिसका पति जीवित है वह सौभाग्यवती मानी जाती है। कुमति का पति अज्ञान है। यदि कुमति है तो मानो अज्ञान जीवित ही है। बिना अज्ञान के कुमति रह ही नहीं सकती। अज्ञान है इसलिए कुमति है और इसलिए कुमति सौभाग्यवती है। कुमति का सर्वत्र राज्य है। जो नहीं सोचना चाहिए उसे सोचना, जो नहीं कहना चाहिए

उसे कहना, जो नहीं करना चाहिए उसे करना, जो नहीं खाना-पीना चाहिए उसे खाना-पीना तथा इसी प्रकार जो व्यवहार नहीं बरतना चाहिए उसे बरतना, यही सब कुमति के राज्य का विस्तार है। देखा जाता है कि संसार में इन्हीं सब का बोलबाला है, इसलिए कुमति का राज्य है, कुमति सौभाग्यवती है, कुमति सुहागिन एवं अज्ञानपति से सदैव संयुक्त है।

विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति-ननदी! तूने सारे संसार को मोह-नींद में सुला दिया है। विचारकर देखो तो लगेगा कि इस संसार में कोई बिरला जागता होगा, शेष तो सब सो रहे हैं। विद्यावृत्ति अर्थात ज्ञान कह रहा है कि हे कुमति! तूने संसार के सारे लोगों को मोह-मूढ़ता में सुला दिया है। संसार के लोग मोह में सोते हैं, परन्तु इसका पता उन्हें नहीं है। यह तो विद्यावृत्ति उत्पन्न होने पर ही पता लगता है, यह सब तो ज्ञानोदय में जाना जाता है कि संसार के लोग सो रहे हैं। संसार के लोग नहीं जान पाते हैं कि हम सो रहे हैं किन्तु जो जाग गया है वह जानता है कि संसार के लोग सो रहे हैं।

"आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।" विद्यावृत्ति कुमति से कहती है कि मैं जब आती हूं तब यही देखती हूं कि तुम और मेरा स्वामी जीव एक साथ सोये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब-जब मन में ज्ञान का उदय होता है तब-तब पता चलता है कि जीव कितनी घोर कुमति में सोया है। सब जीव कुमति में, अज्ञान में एवं मोह में सोये हैं, परन्तु जो सोये हैं उन्हें इसका पता नहीं कि हम अज्ञान में डूबे हैं। वो तो उस जीव को इसका पता चलता है जिसके हृदय में विद्यावृत्ति का उदय हो गया है, जिसके मन में ज्ञान का प्रकाश हो गया है। ज्ञानोदय में ही अज्ञान का पता लगता है कि हम कितने बुरे संस्कारों में डूब जाते हैं। अज्ञानी आदमी अपनी मनोवृत्ति को देखता ही नहीं, किन्तु ज्ञानी अपनी मनोवृत्ति को देखता है। इसलिए उसे पता चलता है कि अभी हृदय में कितना कूड़ा-कचड़ा भरा है। अतएव विद्यावृत्ति कहती है कि हे ननदी, हे दुखदायी कुमति! तू मेरे स्वामी जीव को सब समय भव में डुबाये रखती है।

"मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि मेरे पिता अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं तथा दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अहंकार से ही विद्या तथा अविद्या दोनों वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि अहंकार से अविद्या का पैदा होना तो जमता है, परन्तु विद्या अर्थात ज्ञान भी अहंकार से पैदा होता है यह बात नहीं जमती। परन्तु ध्यान देने से बात समझ में आ जायेगी। यह समझ लेना चाहिए कि

बिना अहंकार के जीव के मन, वाणी तथा इन्द्रियों से कोई कर्म नहीं हो सकता। सारे कर्म एवं करतूति के मूल में अहंकार है। अहंकार का एक रूप होता है जिसमें जीव का बंधन होता है, परन्तु उसके दूसरे रूप से बंधन खुलते हैं, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि शुद्ध अहंकार में भी असावधानी की जाये तो वहां भी बंधन बन जायेगा। शरीर में आग लग जाये तो शरीर जल जायेगा, परन्तु शरीर में आग न हो तो शरीर रह नहीं सकता। शरीर की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए शरीर में आग चाहिए ही। शरीर में आग होने से ही शरीर में डाला गया भोजन पचता है। परन्तु हम अधिक या बहुत कम भोजन करके शरीर की अग्नि का दुरुपयोग करें तो वह शरीरस्थ अग्नि ही शरीर के लिए अहितकर हो जायेगी। इसी प्रकार अशुद्ध अहंकार से मन, वाणी तथा इन्द्रियों में अशुद्ध कर्म होते हैं और शुद्ध अहंकार से शुद्ध कर्म। अतएव अविद्यावृत्ति का उदय तो अहंकार से हुआ ही है, परन्तु विद्यावृत्ति का उदय भी अहंकार से ही हुआ है। बस, अहंकार के दोनों रूपों में क्रमशः अशुद्ध तथा शुद्ध विशेषण का अन्तर है। अशुद्ध अहंकार जीव को बांधने वाला है; किन्तु शुद्ध अहंकार में भी गाफिली की जाये तो यह भी बांधने वाला बन जायेगा। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति बंधनप्रद है ही किन्तु कल्याणकारी विद्यावृत्ति का दुरुपयोग करने से, उसमें आसक्त होने से वह भी बांधने वाली बन जायेगी।

अविद्या और विद्या, ये दोनों वृत्तियां अहंकार से ही पैदा होती हैं। अविद्यावृत्ति तो पहले से ही विद्यमान है, परन्तु विद्यावृत्ति पीछे पैदा होती है। अज्ञान के बाद ही ज्ञान होता है। अविद्यावृत्ति के बाद ही विद्यावृत्ति होती है। एक प्रश्न और हो सकता है कि यदि अविद्यावृत्ति पहले से अर्थात अनादि से है तो उसका अहंकार से पैदा होने की बात अयुक्त है और यदि वह अहंकार से पैदा हुई है तो वह अनादि नहीं है? इसका उत्तर यह है कि आग और उसकी उष्णता दोनों अनादि हैं, परन्तु यह कहा जाता है कि आग से उष्णता पैदा होती है। इसी प्रकार अहंकार और अविद्या अनादि हैं, परन्तु कहा जाता है कि अहंकार से अविद्या पैदा हुई है। अतएव अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति, दोनों अहंकार से ही पैदा होने से दोनों उसकी पुत्रियां हैं, इसलिए विद्यावृत्ति ने कहा कि मेरे पिता की दो पत्नियां हैं, एक मैं और एक मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अविद्यावृत्ति की उत्पत्ति पहले होने से अर्थात अनादिकाल के गर्भ में होने से वह जेठानी है। यहां जेठानी का अर्थ मात्र बड़ी है, जेठ की पत्नी नहीं। जैसे एक पुरुष की दो पत्नियां हों, तो उसमें से एक जो पहली

विवाहिता है वह बड़ी है तथा पीछे की विवाहिता छोटी। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति उम्र में बड़ी है तथा विद्यावृत्ति छोटी है। और इन दोनों का स्वामी अहंकार होने से दोनों उसकी पत्नियां हैं।

"जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में थी तभी लोग मेरी बात जान गये थे। जीव पहले अविद्यावृत्ति में फंसा रहता है, इसलिए वह विषयों का रसिक रहता है। इसी बीच कुछ उसके पूर्व शुद्ध संस्कार तथा कुछ सत्संग एवं विवेक-जन्य पुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय होता है। अतएव जीव के रसिक अवस्था में रहते-रहते ही कुछ सत्संग एवं सत्यपुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय हो जाता है। विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में पैदा हुई तभी जगत के लोग जान गये कि अहंकार का नाशक प्रकाश पैदा हो गया है, अमुक व्यक्ति के जीवन के अज्ञान-प्रदेश में ज्ञान का उदय हो गया है। वस्तुतः अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति, दोनों वृत्तियां जीव के साथ अनादि से हैं। अन्तर यह है कि जीव अनादिकाल से अविद्यावृत्ति में ही लिपटा है। उसके साथ विद्यावृत्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। वह कभी-कभी तनिक-तनिक जाग जाती है जिससे जीव की स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं आता। परन्तु जब विद्यावृत्ति ठीक से जग जाती है तब अविद्या का नाश हो जाता है और जीव एकदम ज्ञानालोक से आलोकित हो जाता है। जीव का शुद्ध स्वरूप केवल ज्ञान है। वह तो अविद्यावृत्ति में लिपटे होने से दुखी है और विद्यावृत्ति के उदय होते ही अविद्या का नाश तथा मोक्ष संपादित हो जाते हैं।

"माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे। आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं युवती हो गयी, अर्थात ज्ञान का अखण्ड प्रकाश हो गया तब मेरी माता मेंरे पिता तथा अन्य साथियों को लेकर और चिता बनाकर उसमें जल मरी। इस प्रकार मेरी माता खुद तो मरी ही, किन्तु अपने मित्र, लोग, कुटुम्ब, संग एवं सभी साथियों को लेकर मर गयी। यहां माया माता है, अहंकार पिता है तथा लोग, कुटुम्ब, संग-साथी हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, प्रपंच, चिंता, शोक आदि समस्त मानसिक विकार। एक माया के जल जाने पर उससे उत्पन्न हुए सारे विकार जल जाते हैं।

मनुष्य को सत्संग करना चाहिए, यथार्थ सद्गुरु की खोज करनी चाहिए, उनके सत्संग में जड़-चेतन का निर्णय करना चाहिए और सबसे भिन्न अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को समझना चाहिए। फिर स्वरूपज्ञान के अभ्यास से

विद्यावृत्ति का उदय होता है। वह अभ्यास से धीरे-धीरे प्रौढ़ हो जाती है। फिर अविद्या, माया, अहंकार तथा अन्य सारे मनोविकार नष्ट हो जाते हैं। इन सबके नष्ट हो जाने पर जीव समस्त वासनाओं से छुटा हुआ होने से मुक्त ही है। अतएव विद्या का यह कहना बड़ा मार्मिक है "माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे।" मेरी माता-माया मेरे पिता-अहंकार को लेकर तथा अन्य कुटुम्बी-साथियों को लेकर एवं ज्ञान की चिता जलाकर उसमें जल मरी। विद्यावृत्ति ने माया, अहंकार, अविद्या तथा सारे मानसिक कूड़े-कचड़े का नाश कर दिया। उक्त सारे प्रतीकों एवं अलंकारों के जंजाल को हटाकर सरल अर्थ यह है कि मन से उत्पन्न हुए अज्ञान को, मन से उत्पन्न हुए ज्ञान ने नष्ट कर दिया और जीव शुद्ध बुद्ध स्वरूप में स्थित हो गया।

उक्त मोक्ष का काम करने का अवसर वर्तमान समय है। इसमें चूको मत। इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है कि यह कब तक रहता है। साहेब कहते हैं कि "जौं लौं श्वास रहे घट भीतर, तौं लौं कुशल परी हैं गे। कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे।" सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में श्वास चल रहा है तब तक सब कुशल-मंगल का काम करने का अवसर है। जिस दिन श्वास निकल जायेगा, उस दिन इस शरीर-मन्दिर में आग लगा दी जायेगी और यह जल जायेगा। तब कुछ होने-जाने वाला नहीं है। इसलिए जीवन रहते-रहते सारे भ्रम को त्यागकर स्वरूपस्थिति करो।

तुम्हारे मन का मोह ही माया है, उसे त्यागो

कहरा-12

ई माया रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो॥ 1॥
चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो॥ 2॥
मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो॥ 3॥
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो॥ 4॥
वेद पढ़न्ते वेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो॥ 5॥
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो॥ 6॥
शृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो॥ 7॥
नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हूँ में बोरी हो॥ 8॥
साकट के घर करता धरता, हरि भक्तों के चेरी हो॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो॥10॥

शब्दार्थ—माया=मन का मोह तथा मोह के आलंबन। रघुनाथ=राम,

जीव। बौरी=पगली। अहेरा=शिकार। चतुर=चालाक, बुद्धिवादी, तर्कशील। चिकनियां=बना-ठना, छैला, भावुक। चुनि-चुनि= खोजकर। दिगम्बर=नंगे। जंगम=विचरणशील, लिंगायत संप्रदाय के साधु। सिंघल=भारत के दक्षिण का द्वीप जिसे श्रीलंका कहते हैं। साकट=निगुरा, ज्ञानरहित। चेरी=दासी।

भावार्थ—यह जीव ही की बनायी पगली माया जीव ही पर शिकार खेलने चली॥ 1॥ इसने बुद्धिवादियों तथा छैलछबीले भावुकों, दोनों को खोज-खोजकर अपने बाणों से आहत किया। इसने किसी को भी अपने जाल से अलग नहीं रहने दिया॥ 2॥ इसने मौनियों, वीरों, दिगंबरों तथा ध्यान धारण करने वाले योगियों को भी मार गिराया॥ 3॥ माया ने जंगल में विचरने वाले तपस्वियों तथा शैवों को भी मारा। माया का तो कोई भोग नहीं कर पाया। किन्तु माया ने ही भोग-लोलुपों को रगड़ दिया॥ 4॥ इतना ही नहीं, वेद पढ़ने वाले वेदाभिमानियों को भी माया ने धर दबोचा और पूजा करने वाले स्वामियों को भी॥ 5॥ इसी प्रकार उसने अर्थ-विचार तथा टीका-व्याख्या एवं भाष्य करने वाले पंडितों को दे पटका और सबको अपनी लगाम में बांध लिया॥ 6॥ माया ने वन के भीतर रहने वाले ऋष्य शृंग को पकड़कर मार गिराया और ब्रह्मा जी का तो उसने सिर ही फोड़ दिया॥ 7॥ मत्स्येन्द्र-नाथ तो माया से पीठ देकर भागे अवश्य, परन्तु माया ने उन्हें सिंहल में दे पटका और विषय में डुबा दिया॥ 8॥ यह माया निगुरों तथा अभक्तों के यहां तो स्वयं कर्ता-धर्ता बनकर उन्हें ठगती है और हरिभक्तों के यहां दासी बनकर उन्हें बेवकूफ बनाती है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! मैं तो, माया सामने आते ही उसे लौटा देता हूं। माया से मुक्त रहने का यही सही तरीका है॥ 10॥

व्याख्या—इस ग्रन्थ में साखी 104-105, 140-142, शब्द 59 आदि की व्याख्या में माया की परिभाषा कर दी गयी है। वस्तुतः मन का मोह माया है और जिन प्राणी-पदार्थों से मोह उत्पन्न हो वे माया के आलंबन भी माया हैं। जब अपने हृदय में पूर्ण विवेक उदित हो जाता है तब वे ही प्राणी-पदार्थ मोह नहीं उत्पन्न कर पाते। परन्तु यदि हम असावधान हो जायें तो वे पुनः मोह उत्पन्न करने लगते हैं। अतएव माया मुख्यतः अपने मन का, अर्थात मन में रहा हुआ, मोह ही है। अब विचारना यह है कि इस माया को किसने पैदा किया, अथवा यह माया किसकी बनायी है! सद्गुरु कहते हैं कि यह माया रघुनाथ की बनायी है। 'रघुनाथ' शब्द देखकर विद्वान लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और वे लोग जीव से अलग एक 'मायी' राम मान लेते हैं। 'मायी' कहते हैं

माया-विशिष्ट को। वह ईश्वर है। वह जादूगर है, छलिया है। अतएव वे मानते हैं कि मानो जादूगर एवं छलिया ईश्वर ने अपनी माया-कुतिया को संसार के सभी लोगों पर लुहकार दिया अर्थात दौड़ा दिया है और वह सबको चुन-चुनकर मार रही है। बीजक-वर्णित माया का अर्थ इस प्रकार इसीलिए किया जाता है कि पहले से मन में यह भावना भरी है कि हरि-माया दुरत्यया है। प्रभु-माया सबको नचा रही है। परन्तु यह सिद्धान्त न सत्य है और न मनुष्य का कल्याणकर। हमारे मन का मोह किसी दूसरे ईश्वर की देन नहीं है, किन्तु हमारे अविवेक का फल है, और इसका विनाश भी हम ही कर सकते हैं। मनुष्य ने माया बनायी है और वही उसे मिटा सकता है। मनुष्य के मन में जो मोह है वही माया है। उसको छोड़कर माया नाम की कोई चीज बाहर नहीं बैठी है जो मनुष्य के ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े। माया बलवती इसलिए लगती है कि हमारी उसमें आदत हो गयी है। बीड़ी छोड़ना इसलिए कठिन लगता है कि उसमें हमारी आदत प्रबल हो गयी है। परन्तु जब हमें उससे घृणा हो जायेगी तब बीड़ी छोड़ना सरल हो जायेगा। हमारे मन में बनी आदत, आसक्ति एवं मोहरूपी माया केवल हमारी बनायी है और इसे केवल हम ही मिटा सकते हैं। बाहरी एक नहीं, करोड़ों ईश्वर मिलकर भी उसे नहीं मिटा सकते। गुरु भी केवल उपदेश दे सकते हैं, रास्ता बता सकते हैं, काम हमें ही करना पड़ेगा।

इस पर भी निवेदन किया जा चुका है कि कबीर साहेब के समय में हरि, राम, रघुनाथ आदि शब्दों का जनमानस में काफी प्रचार हो गया था। कबीर साहेब ने इन नामों को लिया, परन्तु जहां उन्होंने इन शब्दों को विधेयात्मक संदर्भ में लिया वहां इनका अर्थ आत्माराम रखा है। जनमानस में फैले हुए शब्दों को अपना विवेकपूर्ण अर्थ देना एक क्रांति है। कबीर साहेब की भाषा में यहां का 'रघुनाथ' शब्द जीव एवं आत्मा के लिए है। "ई माया रघुनाथ की बौरी" अर्थात यह जीव की बनायी पगली माया जीव पर ही शिकार खेलने चली। जीव ही ने तो सिगरेट पीने की आदत बनायी और यह आदतरूपी माया इतनी पगली हो गयी कि सिगरेट के डिब्बे पर यह लिखा देखकर भी कि 'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है', लोग पीते जाते हैं। इससे अधिक पागलपन क्या हो सकता है! शराब पीने के बाद जो दशा होती है उसे शराबी जानता है, परन्तु फिर-फिर शराब पीता है। क्या यह पागलपन नहीं है। काम-भोग के बाद की क्षीण-मलिन स्थिति का ज्ञान हर कामी को है, परन्तु वह समय आने पर मर्यादित ही नहीं अमर्यादित व्यवहार भी कर पेट

भर पछताता है। क्या यह बौरी माया का हमारे अपने ऊपर शिकार खेलना नहीं है! "कबीर माया राम की, चढ़ी राम पर कूद। हुकुम राम का मेटि के, भई राम ते खूद॥"[1] राम ही की माया राम को धर दबोची। अर्थात मनुष्य की ही बनायी आदत, वासना एवं मोहरूपी माया मनुष्य को पीड़ित कर रही है। जीव ही रघुनाथ है और इसके मन का मोह ही माया है। यही उलटकर जीव के लिए दुखद है।

"चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो।" यहां कबीर साहेब 'चतुर-चिकनियाँ' तथा 'चुनि-चुनि' कहकर सुन्दर अनुप्रास अलंकार का प्रयोग करते हैं। इसमें 'चतुर' और 'चिकनियाँ' ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यहां चतुर के मुख्य अर्थ हैं चालाक या बुद्धिवादी। इसमें सूक्ष्म व्यंजना है बुद्धि के अभिमानी के लिए। जिसे अपनी बुद्धि का बड़ा गर्व हो उसे यहां चतुर कहा गया है। दूसरा चिकनियां है। चिकनियां उसे कहते हैं जो अपने शरीर को बहुत सजाता हो, छैलछबीला बनकर रहता हो। चिकनियां में भावना की प्रधानता होती है। संसार में प्रायः दो प्रकार के मनुष्य होते हैं एक बुद्धिवादी तथा दूसरे भावुक। यहां चतुर बुद्धिवादी है तथा चिकनियां भावुक। सद्गुरु कहते हैं कि माया दोनों को धर दबोचती है। यथार्थ ज्ञान, साधना, एवं सत्संग के बिना केवल बुद्धि की बाहुल्यता जीव को माया से नहीं बचा सकती। संसार में कितने लोग ऐसे मिलेंगे जो बुद्धि के सागर हैं। उनका तर्कजाल विस्तृत है। वे सही को गलत तथा गलत को सही सिद्ध करने में माहिर हैं। परन्तु वे मन-इन्द्रियों के दास हैं और समय-समय पर ऐसे कर्म करते हैं जो एक अनाड़ी की दृष्टि में भी हास्यास्पद है। फिर चिकनियां एवं भावुक की तो बात ही न्यारी है। वह तो शरीर के श्रृंगार एवं राग-रंग में उन्मत्त होता ही है। ऐसे मनुष्य को माया सहज ही लपेट लेती है। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि बुद्धिवादी तथा भावुक, दोनों प्रकार के लोगों को माया मानो खोज-खोजकर मारती है। इन दोनों प्रकार के लोगों को फंसा लेने के बाद संसार में मानो कोई नहीं बचा। भावुकों को तो माया ने मारा ही, बुद्धिवादियों को भी मारा, तो बचा कौन! इन सबका अभिप्राय यही हुआ कि भावुक और बुद्धिवादी, सब अपनी वासनात्मक दुर्बलताओं के शिकार हैं। "बड़े आलिम वो फाजिल हैं, मगर विषयों के बस होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है॥"

---

1. कबीर परिचय।

"मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो। जंगल में के जंगम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो॥" कुछ लोग बोलना छोड़ देते हैं और मौन हो जाते हैं। संसार में लड़ने-भिड़ने वाले शूर-वीर होते हैं, और शैव संप्रदाय में भी वीर-शैव कहलाने वाले साधु होते हैं। जो दिशाओं को ही वस्त्र मानकर नंगे हो गये हैं ऐसे नंगे साधुओं को दिगम्बर कहा जाता है। योगी लोग प्रायः धारणा, ध्यान आदि में लगे रहते हैं। जंगल में रहने वाले साधु-संन्यासी, विचरण करने से जंगम कहे जाने वाले तथा शैव लिंगायत जंगम साधु—इन सब को माया ने धर दबोचा। इन सब का अर्थ यह है कि मन का मोह, मन की नीच आदतें, काम-वासनाएं या इसी प्रकार अन्य मन की कुटेव, यही सब माया हैं, और ये सब केवल मौनी, वीर, नंगे, योगी, जंगम आदि बनने से नहीं जीते जा सकते। यह ठीक है कि यह सब साधना करना चाहिए। वासनाओं को जीतने के लिए ये सब आधार हैं। परन्तु साहेब का कथन गहराई से है। वे कहते हैं कि तुम बाहरी आचार कर बहुत शीघ्र उच्च साधक कहलाने लग सकते हो। तुम मौनी, दिगम्बर, योगी, शिवाचारी आदि बन सकते हो, परन्तु मात्र इतने से यह नहीं माना जा सकता कि तुम माया पर विजयी हो गये। सद्गुरु कहते हैं कि खबरदार! तुम बाह्याचार के धोखे में न रहना। यह माया, यह वासना बड़ी बलवती है। तुम यह भ्रम पाले रहोगे कि तुम मौनी-योगी आदि हो, परन्तु यदि तुम में सावधानी, विवेक तथा जागरूकता नहीं है तो बाहरी ढंग से साधक दिखते हुए भी भीतर से बह जाओगे। इसलिए बाह्याचार तथा वेष का कभी गर्व न करना। पुराकाल में विश्वामित्र, नीमीऋषि, नारद आदि बड़े-बड़े तपस्वी इसलिए गिर गये क्योंकि उन्होंने कुसंग का त्याग नहीं किया और न तो सावधानी बरती।

सद्गुरु कहते हैं "माया किनहुँ न भोगी हो।" किसी ने माया का भोग नहीं किया। अर्थात कोई माया को भोग नहीं पाया। जिस प्रकार मनुष्य की इच्छा रहती है वह भोगों को कहां भोग पाता है! जितनी इच्छा मन में पैदा होती है उसका शतांश भी मनुष्य नहीं भोग पाता। आदमी को इच्छा पूरी हुए बिना भोगों को तथा संसार को छोड़ना पड़ता है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि "हमने भोगों को नहीं भोगा, किन्तु भोगों ने ही हमें भोग डाला, हमने तप नहीं किया, किन्तु तप ने ही हमें तपा डाला, काल समाप्त न हुआ किन्तु हमारी ही समाप्ति हो चली और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम बूढ़े हो गये।"[1]

---

1. भोगा न भुक्तः वयमेव भुक्तास्तपौ न तप्तं वयमेव तप्ताः।

"वेद पढ़न्ते वेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो।" वेदुआ लोग वेद पढ़ते-पढ़ते माया द्वारा मारे गये। यहां कबीर साहेब ने वेदपाठी पंडितों को 'वेदुआ' कहा है। वेदपाठियों को बड़ा अभिमान होता है कि हम वेद का पाठ करते हैं जो सीधे ब्रह्म-वचन है। 'वेदुआ' शब्द में वेदाभिमान की व्यंजना है। वेदपाठ करके क्या होगा यदि मन अपने वश में नहीं है। यदि मलिन वासनाओं को न जीता गया तो वेद-शास्त्र-पाठ निरर्थक हैं। यह पीछे जगह-जगह बताया गया है कि मंत्रविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद् तीन प्रकार के ज्ञाता होते हैं। जो व्यक्ति छन्दों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर शुद्ध उच्चारणपूर्वक पाठ करता है वह मंत्रविद् है। जो वेदमंत्रों के अर्थों को जानता है वह वेदविद् है। परन्तु जो जीवन में जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद् है। वस्तुतः वेद्यविद् ही श्रेष्ठ है। परन्तु उसे भी जाने हुए को आचरण में उतारने पर ही माया पर विजय मिलेगी। 'आचरणहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।'[1] साहेब कहते हैं बड़े-बड़े स्वामी लोग जो निरन्तर पूजा-अर्चना में लगे रहते हैं, माया द्वारा मारे जाते हैं। अतएव आचरण-पवित्रता का न तो वेदपाठ प्रमाण है और न पूजा। वेदपाठ और पूजा का दौरदौरा चलते हुए भी मन माया का गुलाम बना रह सकता है।

"अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।" पंडित जो बुद्धि और विद्या से सम्पन्न होता है, वह बड़े-बड़े गूढ़ ग्रन्थों, पदों, श्लोकों, प्रतीकों, रूपकों, उलटवासियों आदि से मार्मिक अर्थ निकाल लेता है, सुन्दर-सुन्दर टीकाएं, व्याख्याएं एवं भाष्य कर देता है, परन्तु इस प्रकार कितने अर्थ विचार करने वालों को माया तुच्छ-तुच्छ विषयों में पटक देती है। ऐसा आदमी अर्थ विचारते समय परम ज्ञानी होता है, परन्तु एकांत मिलने पर उसके मन की कुटेव एवं गलत आदतें उसे अनर्थ करने को तत्पर कर देती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया ने सबको लगाम लगा दिया। घोड़ा बड़ा बलवान होता है, परन्तु उसके मुख में लगाम लगा देने पर वह वश में हो जाता है। इसी प्रकार माया वासनावशी मनुष्यों को लगाम लगा देती है।

"शृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो। नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो॥" इस माया ने ऋष्यशृंग को वन के भीतर मार गिराया, ब्रह्मा का सिर फोड़ दिया तथा मछन्दरनाथ को सिंहल में विषय-

---

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ (भर्तृहरि वैराग्य शतक, 12)

1. आचारहीनः न पुनन्ति वेदाः।

वासनाओं में डुबा दिया।

ऋष्य शृंग

विभांडक नाम के एक ऋषि थे।[1] वे जल में समाधि लगाकर बैठे थे। उर्वशी अप्सरा को जाते देखकर मोहित हो गये। उनका वीर्य निकल गया। एक मृगी वहां पानी पी रही थी। उसने पानी सहित उस वीर्य को पी लिया। उसे गर्भ रह गया। समय से एक बच्चा हुआ। बच्चा मनुष्य था, परन्तु उसके सिर पर एक सींग था। विभांडक ने उस बच्चे का नाम ऋष्यशृंग रखा। ऋषि ने उसे स्वयं पाला।

ब्राह्मणों के कोप के कारण अंगदेश[2] में घोर अवर्षण से अकाल पड़ा। पंडितों ने कहा कि विभांडक ऋषि के पास एक ऐसा बच्चा है जिसने अभी तक स्त्री का मुख तक नहीं देखा है, एवं शुद्ध ब्रह्मचारी है। यदि वह अंगदेश में आये तो देश में वर्षा होगी। अंगदेश के राजा लोमपाद थे। उन्होंने वेश्याओं को भेजा। वे नौका में बैठकर विभांडक ऋषि के आश्रम पर गयीं। उन्होंने आश्रम से दूर ही अपनी नौका रोककर यह पता लगाया कि विभांडक कब आश्रम से बाहर जाते हैं। जब विभांडक ऋषि आश्रम से बाहर थे, उस समय एक वेश्या आश्रम पर ऋष्यशृंग को मिली। उसने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। उनके अंगों को छुआ और प्रेम से बात किया। उन्हें खाने के लिए मीठे-मीठे फल दिये और विभांडक के आश्रम पर पहुंचने के पहले वह अपने डेरे पर लौट गयी। जब विभांडक आश्रम पर आये तब ऋष्यशृंग ने यह सब पुलकित होकर बताया कि एक सुन्दर मनुष्य आया था। वह बड़ा प्रेमी था। उसके अंगों के लक्षण भी बताये। विभांडक समझ गये कि ये लक्षण तो स्त्रियों के हैं। उन्होंने दूसरे दिन जब फल एवं लकड़ी के लिए आश्रम से बाहर जाना चाहा तब ऋष्यशृंग को समझा दिया कि अब यदि वह आये तो उसकी उपेक्षा कर देना, क्योंकि वह बहुत बुरा जीव है।

विभांडक के बाहर जाने पर वेश्या पुनः आश्रम पर आयी। ऋष्यशृंग उसके व्यवहार में मोहित होकर उसके साथ अंगदेश चले गये। अंगदेश पहुंचने पर राजा लोमपाद ने उनके साथ अपनी पोष्यपुत्री शांता की शादी कर दी। इस प्रकार "शृंगीऋषि बन भीतर मारे" कहा गया।

इस कथा में ब्राह्मणों के कोप से अवर्षण बताकर ब्राह्मणों ने इस कथा में

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 110 से 113 तक।
2. अंगदेश पूर्वोत्तर बिहार का भागलपुर क्षेत्र है।

अपनी मिथ्या धाक जमायी है जो प्रायः उनकी मनोवृत्ति-सी रही है। साथ-साथ विभांडक ऋषि को इतना दुर्बल मन का सिद्ध किया है कि अप्सरा को देखते ही उनका वीर्य गिर गया। पुरुष का वीर्य मुख से पीने से मृगी गर्भवती हो जाये यह एक असत्य एवं प्रकृतिविरुद्ध बात है। सार इतना ही है कि माया ने ऋष्यशृंग को वन में विमोहित कर उन्हें अंगदेश की राजधानी में लाकर उनकी शादी करा दी।

"शिर ब्रह्मा का फोरी हो" कहा जाता है कि शिव-पार्वती के विवाह में ब्रह्मा उपस्थित थे। वे पार्वती के रूप-सौन्दर्य देखकर विमोहित हो गये। इसे देखकर शिवजी को कोप हुआ और उन्होंने अपना हाथ उनके सिर पर मारा तो ब्रह्मा का सिर कटकर उनके हाथ में चिपक गया। विष्णु जी ने शिव को राय दी कि आप बदरिकाश्रम की तरफ जाकर तप करो तब हाथ से सिर अलग होगा। इस प्रकार ब्रह्मा के मन के मोह ने उनका सिर फोड़वा दिया। अथवा ब्रह्मा अपनी पुत्री पर मोहित हो गये।[1] इससे मानो उनका सिर फूट गया, बुद्धि मारी गयी।

मत्स्येन्द्र नाथ

"नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो।" ईसा नवीं शताब्दी में मछन्दरनाथ हुए हैं। इनको मस्त्येन्द्रनाथ तथा मीननाथ नाम से भी जाना जाता है। इनके गुरु आदिनाथ थे तथा इनके मुख्य शिष्य गोरखनाथ थे। गोरखनाथ ने अनेक जगह इस विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने एक षटपदी (छह पदों के छंद) के अंत में कहा है "यह षटपदी कहने वाला गोरख अवधूत आदिनाथ का नाती (प्रशिष्य) तथा मछन्दरनाथ का पुत्र (शिष्य) है।"[2]

अद्वैतवेदांत-मार्ग तथा योग-मार्ग, दोनों वैराग्य-प्रधान मार्ग हैं, परन्तु दोनों में एक-एक भयंकर दुर्बलता है। वेदांतमार्ग में यह मान लिया जाता है कि आत्मा के निर्मल होने के कारण यदि ज्ञानी की इन्द्रियां भोगों में लगी भी रहें तो कोई हानि नहीं है। इसलिए आदि शंकराचार्य को यह चित्रित किया गया कि उन्होंने परकाया प्रवेशकर रानियों के साथ भोगों को भोगा। वेदांत के इस निर्लिप्तवाद ने ही विरक्त शंकराचार्य को अत्यन्त कामलीन बताकर उन्हें निर्लिप्त सिद्ध किया है।[3] योग मार्ग की दुर्बलता है बज्रोली तथा अमरोली

---

1. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 3, अध्याय 12/मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी।
2. आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता। षटपदी भणींलै गोरख अवधूता॥ गोरखबानी, पद 2॥
3. देखिए माध्वाचार्य कृत शंकर दिग्विजय नवां-दसवां सर्ग। तथा इस ग्रन्थ के 14वें शब्द की व्याख्या में भी।

साधना। योगी अपने शिश्न से क्रमशः पानी, दूध तथा मधु खींचने का अभ्यास करता है। कहा जाता है। कि इसके बाद उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि स्त्रीप्रसंग करते हुए वह अपने वीर्य को गिरने नहीं देता, प्रत्युत स्त्री के रज को भी अपने शिश्न द्वारा खींच लेता है। इसे बज्रोली-साधना कहते हैं। योगी मानते हैं कि ऐसा करने वाला परम योगी है। गोरखनाथ जैसे वैराग्यवान योगी ने भी इसकी प्रशंसा में इस प्रकार लिखा है—"जो बज्रोली साधना करे तथा उसके साथ अमरोली तथा प्राण साधना करे और भोग करते हुए अपने वीर्य को क्षीण न होने दे वह गोरख का गुरुभाई है। अग्नि की आंच पर पारा को उड़ने से बचाने के समान जो स्त्री-संग करते हुए अपना वीर्य न गिरने दे वह हमारा गुरु है।"[1]

उक्त वाणी चाहे गोरखनाथ ने खुद कही हो और चाहे उनके अनुगामियों ने उनसे कहलवाया हो, अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। यह बज्रोली-अमरोली-जैसी घृणित साधना वैराग्य का शत्रु, नैतिकता का नाशक तथा साधकों का नरक-पंथ है। योग के चोंगे में भोग का यह प्रपंच चलता रहा। वामाचार ने तो योग-मार्ग का नाश ही कर दिया है। कहा जाता है कि इसी वामाचार तथा बज्रोली आदि साधना के भ्रम में पड़कर मछन्दरनाथ जैसा महायोगी महारानी मंगला और कमला की काम-क्रीड़ा का दास हो गया। ये महारानियों सिंहल देश के नरेश की थीं या भारत स्थित कामरूप (आसाम) की थीं, पक्का निर्णय नहीं है। ज्यादा प्रसिद्ध सिंहल है। इसीलिए सद्गुरु ने सिंहल का नाम लिया है। यह भी हो सकता है कि कामरूप में ही किसी क्षेत्र का सिंहल नाम रहा हो। कामरूप में वामाचार अधिक रहा है, यह परम सत्य है। जो हो, इतना सत्य है कि मछन्दरनाथ वामाचार के चक्कर में राजरानियों के कामभोग में डूब गये। इस दुर्घटना का संदेश गोरखनाथ को योगी कान्हपा ने दिया कि तुम्हारे गुरु मछन्दरनाथ योग-मार्ग को छोड़कर भोग-मार्ग में लग गये हैं। गोरखनाथ वहां गये जहां मछन्दरनाथ रानियों के रंगमहल की वाटिका में विराजमान थे। वहां पहरा था, दूसरा कोई जा नहीं सकता था। अतएव गोरखनाथ ने उस घेरे के बाहर से गाया "जाग मछन्दर गोरख आया।" और भी उन्होंने अनेक पद ऐसे बनाकर गाये कि उन्हें सुनकर मछन्दरनाथ की

---

1. बजरी करंतां अमरी राषै, अमरि करंता बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै, ते गोरख का गुरुभाई॥
भगमुषि ब्यंद अगनिमुषि पारा, जो राषै सो गुरू हमारा॥
(गोरखबानी, सबदी 141-142, गोरखनाथ मंदिर)

मोह-नींद भंग हुई और गोरखनाथ से जा मिले। ऐसे पदों में से केवल दो पद यहां लें, जिनसे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

गोरखनाथ अपने गुरु मछन्दरनाथ को लक्ष्य बनाकर कहते हैं—"हे गुरु जी! ऐसा कर्म न कीजिए जिससे शरीर के लिए अमृत के समान महारस-वीर्य क्षीण हो। ये स्त्री सिंहनी है। ये दिन में शृंगारकर हाव-भाव कटाक्षकर पुरुष को मोहती हैं और रात में उसके वीर्य-सरोवर को सोखती हैं। ये मूर्ख पुरुष यह सब जानकर भी घर-घर में इस सिंहनी को पालते-पालते हैं। नदी के तट पर लगा हुआ पेड़ अब गिरा-अब गिरा करता है, वैसे स्त्री के साथ रहता हुआ पुरुष शीघ्र पतित होता है। काम मन से उत्पन्न होता है और उससे मनुष्य उसी प्रकार पतित हो जाता है जिस प्रकार मानो कोई सुमेरु पर्वत से गिर गया हो। इस पतन से उसकी जड़ ही नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति अपने आप को काम में क्षीण करता है उसके पैर जल्दी डगमगाने लगते हैं, पेट पाचनशक्ति कम कर देता है, सिर के बाल जल्दी ही बगुल-पंख-जैसे उजले हो जाते हैं। यह स्त्रीरूप सिंहनी भयंकर मथन करने वाले नेत्रबाण चलाती है और वीर्यरूपी अमीरस को सोखती है। अतएव इस स्त्री-सिंहनी को निंदित करना चाहिए और इसके मोह को नष्ट कर देना चाहिए। यह अपनी काया भी तो सिंहनी है जो काम-भोग की तरफ ले जाती है। गोरख कहते हैं कि इस कामिनी सिंहनी ने सुर, नर, मुनि आदि सब को लूट-लूटकर खा लिया है।"[1]

"हे गुरुदेव! स्त्री रूपवती है, रूपवती है ऐसा चाहे जितना माना जाये, परन्तु यह महाकुरूपा है। यह भीतर से सिंहनी है, केवल ऊपर से भोली-भाली दीखती है। यह पुरुष भी बेबूझ है कि जिस माता ने नौ महीने अपने पेट में रखकर तथा पुनः पैदाकर मनुष्य को संसार दिखाया है, उसी माता जाति नारी को सीने से चिपकाकर सोता है। गोरख ऐसा कहता है कि हे गुरु मछन्दरनाथ! आप जरा अपने गुरु आदिनाथ के उपदेशों पर ध्यान दीजिए।

---

1. गुरूजी ऐसा करम न कीजै ताथैं अमी महारस छीजै॥ टेक॥
दिवसै बांघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि-घरि बाघणि पोषै॥ 1॥
नदी तीरै बिरषा नारी संगे पुरषा अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा॥ 2॥
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला सिर बगुलां की पंषियां।
अमी महारस बांघणीं सोष्या घोर मथन जैसी अषियां॥ 3॥
बाघनी कौ निंदिलै बाघनीं को बिंदले बाघनीं हमारी काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुर नर षाये भणंत गोरष राया॥ 4॥ गोरखबानी, पद 43॥

आप गुरुमुख होकर मन्मुखी हो रहे हैं और बंधनों में पड़े हैं। यह आपका योग कैसा है? हे गुरुदेव! आप स्त्रियों के बीच में पड़े-पड़े रात-दिन चाम घिसते हैं। इससे तो आपकी काया दिनोंदिन क्षीण होती जायेगी। यह काम-भोग ओष्ठ, कंठ तथा तालु को सुखा देगा और मज्जा को भी निकालकर खा जायेगा। हे गुरुदेव! जैसे पतंग मोहवश दीपक की ज्योति में जल मरता है, वैसे मनुष्य कामवश स्त्री के साथ अपने आपको नष्ट करता है। आप बूढ़े हो गये हैं, फिर भी इस अवस्था में आपको राजरानियों के साथ भोग की कामना जगी हुई है। इस अवस्था में भी आप मोह-माया नहीं छोड़ रहे हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि हे गुरुदेव मछन्दरनाथ! आप शिव तुल्य आदिनाथ के शिष्य हैं। जरा अपने आप का ख्याल करें! वीर्य को जो झरने न दे प्रत्युत उसे सुरक्षित रखे; उसको अवधूत कहा जाता है। आप अवधूत हैं, इसका स्मरण करें।"[1]

इस प्रकार सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मछन्दरनाथ को माया ने सिंहल में डुबा दिया। सिंहल हो या कामरूप या अन्य स्थल, मुख्य अर्थ है कि माया ने उन्हें पथभ्रष्ट कर दिया।

"साकट के घर करता धरता, हरि भक्तों के चेरी हो।" निगुरों के घरों में माया स्वयं मालिकिन बन जाती है। परन्तु हरिभक्तों के घर में वह चेरी बनकर उन्हें फंसाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो घोर संसारी हैं उनके घरों में तो माया ही सब कुछ है। वे तो सिर तक उसमें डूबे ही रहते हैं, परन्तु हरिभक्तों को भी यह माया चेरी बनकर फंसा लेती है। आप देखते नहीं, कितने साधुओं के आश्रमों में साधुनी, संन्यासियों के आश्रमों में संन्यासिनी,

---

1. रूपे-रूपे कुरूपे गुरदेव, बाघनी भोलै-भोले,
जिन जननीं संसार दिषाया, ताकौं ले सूते षोले॥टेक॥
गुरू षोजौ गुरदेव गुरू षोजौ, बंदत गोरष ऐसा,
मुषते होइ तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा॥ 1॥
चांम ही चांम घसंता गुरदेव, दिन-दिन छीजै काया,
होठ कंठ तालुका सोषी, काढ़ि मिजालू षाया॥ 2॥
दीपक जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
बूढ़े होई तुम्हें राज कमाया, नां तजी मोह माया॥ 3॥
बंदत गोरषनाथ सुनहु मछन्दर, तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म झंरता जे नर राषै, सो बोलौं अवधूता॥ 4॥ गोरखबानी, पद 49॥
गोरखनाथ महाराज की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने गुरु को पतित समझकर उनसे घृणा नहीं की, किन्तु उनके उद्धार के लिए प्रयत्न किया। और मछन्दरनाथ महाराज की भी यह विशेषता है कि अपने शिष्य के उपदेशों से वे सावधान हो गये। उन्होंने अहंकार और दंभ का प्रदर्शन नहीं किया।

महंतों के आश्रमों में महंतिनी, स्वामियों के यहां सेविका बनकर उनके ज्ञान-वैराग्य को चाट जाती है। और ये त्याग के नाम पर कायर-कपूत लोग बिगड़ी घड़ी बनकर संसार में गलत आदर्श उपस्थित करते हैं। मुमुक्षु पुरुषों के लिए स्त्री माया है और साधिका स्त्रियों के लिए पुरुष माया है। वस्तुतः मन का मोह माया है और वह मोह जिन माध्यमों से बढ़े वह माया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! माया सामने आते ही उसे लौटा दो या तुम उससे अपना मुख फेर लो। बीजक के महासूत्रों में से इस कहरा की यह अंतिम पंक्ति महासूत्र है—"ज्यों आवै त्यों फेरी हो"। जिन दृश्यों से मन मलिन हो, उधर से मुख घुमा लो और जिन स्मरणों से मन मलिन हो उन्हें त्याग दो, उनसे अपना मन हटा लो। तुम्हें संसार की वे वस्तुएं मिलें जो देह-निर्वाह में काम देती हैं तो उनका अधिक संग्रह न कर उन्हें लोगों में खर्च होने दो। 'फेरी' के अर्थ बांटना तथा घुमाना, दोनों हैं। वस्तुओं को बांटते रहो तथा अपने नेत्रों को दृश्यों से तथा मन को बुरे संकल्पों से लौटाकर अपने आत्माराम में लगाते रहो।

कबीर साहेब माया को किसी प्रभु-प्रेरित तथा दुरत्यया नहीं मानते, किन्तु वे कहते हैं कि माया तुम्हारे मन की खोटी आदतें हैं तथा वे आदतें जिसके सम्बन्ध से पैदा हों वे प्राणी-पदार्थ हैं। अतएव माया से छूटना तुम्हारे हाथों में है। तुम यदि माया से छूटना चाहते हो तो अन्दर-बाहर जड़दृश्यों से अपने मन-इन्द्रियों को लौटाकर उन्हें अपने आत्माराम में लगाओ।

फल छन्द

केहु भाँति नहिं सन्तुष्टि थी,
दिन-दिन वही भव व्याधियाँ।
रुचि सुभग ललना वत्स धन,
सुख भोग रोग उपाधियाँ॥
मद काम क्रोध विमोह बल्लभ,
बाम वंचक साथियाँ।
सो सब विषमता दूर भौ,
जब श्रवण गुरुवच गाथियाँ॥

चौपाई

सो उपकार कहो किम भूलै।
पाय स्वपद अमृत, दलि शूलै॥
वचन अर्थ सब कहत समूलै।
जीवन लाभ मिलै नहिं झूलै॥

बसन्त

हेतु छन्द

कामुक वसन्त उलास नित-
नव सर्व ओर विकास से।
निर्भेद रस शृंगारमय,
नर नारि बिरही आश से॥
सब मूढ़ विदुषहुँ भोग शोकहुँ,
रोग हाय हहास से।
जग-ब्रह्म-माया पुरुष-प्रकृती,
भोग्य-भोक्ता भास से॥

दोहा

भव वसन्त मृगवारि भ्रम, अथवा दीप पतंग।
भटकि-भटकि जलि-जलि उलझि, परखु दशा तब चंग॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

षष्टम प्रकरण : बसन्त

वासनात्यागी का वसन्त-उल्लास नित्य है

बसन्त-1

जाके बारह मास बसन्त होय, ताके परमारथ बूझे बिरलाकोय॥ 1॥
बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार॥ 2॥
पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय॥ 3॥
बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास॥ 4॥
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय॥ 5॥
जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव॥ 6॥
अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझे सो पाव॥ 7॥

शब्दार्थ—बसन्त=वसंत, छह ऋतुओं में से एक जो चैत्र-वैशाख में पड़ता है, आनन्द-उल्लास के दिन। परमारथ=परमार्थ, उत्कृष्ट वस्तु, नित्य, सत्य, मोक्ष। हरियर=हरा-भरा। अठारह भार=संपूर्ण वनस्पति। पनिया=पानी, जल। कसमलिन=विकार, पाप, विषयवासना। आकाश=ब्रह्मांड। बास=गंध। बोय=बू, गंध (सुगंध या दुर्गंध)। चाव=तीव्र इच्छा, अनुराग।

भावार्थ—वासना-त्याग और निजस्वरूपस्थिति के कारण जिसके जीवन में बारहों महीने मानो वसंत लगे हों और हर समय आनंद-उल्लास हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति को कोई बिरला समझ सकता है॥ 1॥ जैसे वसंत में धूप की अखंड धारा बरसती है और संपूर्ण वनस्पतियां हरी-भरी हो जाती हैं, वैसे उक्त ज्ञानी के जीवन में ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है और उसका अंतःकरणरूपी वन हरा-भरा हो जाता है॥ 2॥ वसंत में गरमी बढ़ जाने से जैसे लोग पानी को बहुत आदर देने लगते हैं और सोने-नहाने आदि में उसका बहुत उपयोग करने लगते हैं तथा शरीर से निकले हुए पसीने से उत्पन्न मैल को शुद्ध करने के लिए खुले वायु का भी सेवन करने लगते हैं, वैसे जिसके जीवन में ज्ञानाग्नि की जितनी प्रचंडता बढ़ती है वह उतना ही निर्णय वाणी को

आदर देता है और नित्य के व्यवहार में उत्पन्न होती हुई मलिनता को विचार-पवन से धोता है॥ 3॥

परमार्थ के नाम पर हठयोगियों का वसंत चलता है, जो क्षणिक है। उनके यहां बिना वृक्ष-वन हुए आकाश में फूल खिलते हैं। अर्थात जब हठयोगी वायु को मूलाधार से ऊपर उठाते हुए ब्रह्मरंध्र एवं ब्रह्मांड में पहुंचते हैं तो वहां कल्पित ब्रह्मरूपी फूल खिल जाता है जिसमें शिव तथा विरंचि-जैसे महानुभावों ने भी सुगंधी ली है॥ 4॥ इसकी सुगंधी में सनकादि ऋषिजन भी भूल गये हैं। उन्होंने तो जो चौरासी लाख योनि है उस जड़-चेतनात्मक संसार को ही ब्रह्म मान लिया है॥ 5॥

हे साधक! यदि तुम्हें सद्गुरु सत्य स्वरूप का ज्ञान दे देंगे, तो उनके चरणों की भक्ति तुम्हारे मन से छूट नहीं सकती॥ 6॥ यह अपनी आत्मा ही अमरलोक है और उसमें स्थित होना ही उसको जानने का फल है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो इसे समझेगा और जिसके मन में इसके लिए उत्कृष्ट इच्छा होगी वह इस स्थिति को प्राप्त करेगा॥ 7॥

व्याख्या—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ये छह ऋतुएं हैं। जिनमें भारतीय समय-सारिणी के अनुसार वसंत पहली ऋतु है जो चैत्र-वैशाख में पड़ती है। वंसत को ऋतुराज कहा गया है। अर्थात समस्त ऋतुओं में वसंत ऋतु श्रेष्ठ मानी जाती है। वसंत ऋतु में पेड़-पौधे पुराने पत्ते तथा छाल छोड़ते और नये पत्ते एवं छाल ग्रहण करते हैं। वसंत में गरमी आरम्भ हो जाती है, परन्तु संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा हो जाता है। आप वसंत में बाग और वन में जाकर वहां की छटा देख सकते हैं। पेड़-पौधों में नये पत्ते और छाल तो आते ही हैं, उनमें मौर तथा फूल-फल भी आते हैं। कामी लोग वसंत को काम का सहचर मानते हैं और वैराग्यवान संत निर्विकल्प वैराग्य का साधन। वस्तु तो वही होती है, उसका सदुपयोग कल्याणकारी होता है तथा दुरुपयोग अकल्याणकारी।

प्राकृत-जगत एवं संसार में तो बारह महीने में केवल दो महीने के लिए वसंत आता परन्तु जो मनुष्य सांसारिकता से ऊपर उठकर अपने आत्माराम में निरन्तर रमण करते हैं उनके लिए मानो बारहों महीने वसंत हैं। जिसका मन संसार के भोगों में लगता रहता है उसके मन में सदैव आशंका, भय, चिन्ता तथा हर्ष-शोक के द्वन्द्व आते रहते हैं। परन्तु जिसका मन अनित्य संसार के भोगों को सर्वथा छोड़कर नित्य निजस्वरूप चेतन में रमा है उसका सुख कभी घटता नहीं। संसारासक्त आदमी तो बाहरी वसन्त एवं मोहक दृश्य पाकर

उनमें आनंदित होता है जो क्षणिक हैं इसलिए उसका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु जो अपने अविचल एवं शाश्वत आत्माराम में रमता है उसका आनन्द घट नहीं सकता, क्योंकि उसके आनन्द का आलंबन क्षणिक पदार्थ नहीं, किन्तु अविनाशी चेतन है। अतएव आत्मरत पुरुष के लिए मानो पूरा जीवन वसंत का उल्लास-आनन्द है। परन्तु "ताके परमारथ बूझे बिरला कोय।" उसकी उत्कृष्ट स्थिति को, उसकी उच्चतम दशा को कोई बिरला ही समझेगा। आदमी संत को भी केवल इतना ही जान पाता है कि जैसे हम खाते-पीते, सोते-जागते मानव हैं वैसे संत कहलाने वाले लोग भी हैं। यह ठीक है कि संत कहलाने वाले सब लोग ऐसी उच्चतम स्थिति में नहीं होते हैं, परन्तु जो होते हैं उन्हें समझने वाला भी बिरला होता है। व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन ही सत्य है, उसका वासनाओं से मुक्त होना मोक्ष है, यही जीवन की उच्चतम दशा है और यही परमार्थ है। यह स्वसंवेद्य है। दूसरे की इस स्थिति का अनुमान वही कर सकता है जो स्वयं इस स्थिति में हो। श्रद्धा एवं समझ से इसे हम परोक्ष में एवं धुंधुलके में ही जान सकते हैं।

"बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार।" 'एक मास ऋतु आगे धावै' कहावत के अनुसार किसी भी ऋतु के पिछले हिस्से में अगली ऋतु का आभास मिलने लगता है। जैसे जेठ आते ही वर्षा की शुरुआत हो जाती है, वैसे वसंत ऋतु का पिछला महीना वैशाख आते ही गर्मी खूब बढ़ जाती है। चैत्र-वैशाख ही वसंत ऋतु है और इसमें धूप बढ़ जाती है। वैशाख में तो धूप वैसे हो जाती है कि मानो आग की अखंड धारा ही बरस रही हो। परन्तु आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण वनस्पति-जगत इस समय हरा-भरा हो जाता है और फूलने-फलने भी लगता है। "हरियर भौ बन अठारह भार" में 'अठारह भार' ध्यान देने योग्य है। अठारह भार क्या है? कहते हैं फल वाली वनस्पति चार भार, लताएं चार भार, फूलों वाली छह भार और कांटे वाली वाली वनस्पति चार भार होती है। "पांच करोड़, तीन लाख, अट्ठासी हजार को दूना करने से जितना होता है उतने को पण्डितजन एक भार कहते हैं।"[1] अर्थात दस करोड़, सात लाख, छिहत्तर हजार प्रकार की वनस्पतियों को एक भार कहा जाता है। और पूरी वनस्पति अर्थात अठारह भार की कुल संख्या होगी एक अरब, इक्यासी करोड़, उन्तालीस लाख, अड़सठ हजार (1, 81, 39, 68,000)। रज्जब ने भी कहा है—

---

1. धीकोटि-स्त्रीणि लक्षाणि वस्वशीतिसहस्रकम्।
   एतानि द्विगुणीकृत्य भारमेकं जगुर्बुधाः॥ (उद्धृत श्री विचार साहेब की बीजक टीका से)

ज्यों माखी मधु काढ़ि ले, शोधि अठारह भार।
त्यों रज्जब तत् ही गहो, तीन्यू लोक मँझार॥

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे वसन्त में खूब गरमी पड़ने लगती है और साथ-साथ संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा भी हो जाता है, वैसे ज्ञानी के भीतर ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है, और उसका हृदय-कानन हरा-भरा एवं पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। जैसे वसंत के ताप से वनस्पति-जगत सूखने की अपेक्षा हरा-भरा होता है वैसे ज्ञान के ताप से हृदय का वन हरा-भरा होता है। इस प्रकार ज्ञानी के हृदय-कानन में सदैव वसंत ऋतु है और वह सदैव आनन्दमग्न रहता है।

"पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय।" हेमंत तथा शिशिर ऋतु में पानी और हवा, दोनों काटे खाते हैं, परन्तु वसंत ऋतु आते ही ये दोनों आदरणीय हो जाते हैं। पीने तथा नहाने के लिए पानी का ज्यादा उपयोग होने लगता है और खुली हवा में बैठकर लोग अपने शरीर के पसीने को सुखाना चाहते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्णय की वाणी ही मिष्ट पानी है तथा विचार ही शीतल, मंद, सुगन्ध हवा है। समझदार एवं ज्ञानी ही इनका आदर करता है। हममें जितना ज्ञान बढ़ेगा, हम उतना निर्णय वाणियों को आदर देंगे और उतना ही विचार को प्रश्रय देंगे। अल्पज्ञानी तथा संकुचित व्यक्ति ही केवल परम्परा की पूंछ पकड़े हुए 'अधे अंधा पेलिया' की कहावत चरितार्थ करता है। जिसका ज्ञान जितना बढ़ जाता है वह उतना ही उदार हो जाता है। वह कहीं से भी निर्णय वाणी ग्रहण कर लेता है चाहे किसी मत या शास्त्र की हो, बालक, बूढ़ा, पागल आदि के मुख से निकली हो या दीवार पर लिखी हो। उदार ज्ञानी के लिए सत्य समान आदरणीय है। मनुष्य का कल्याण निर्णय वाणी से है, केवल परम्परा से नहीं। इसलिए निष्पक्ष मनुष्य सब जगह सार-सार लेता है और विचार-पवन से सदैव अपने मन के मैल को धोता है। जीवन के नित्यप्रति के व्यवहार में मनुष्य के मन में मैल आने की संभावना बनी रहती है। इसलिए उसे दूर करने के लिए समझदार मनुष्य विचार-पवन का सेवन करता है। विचारवान का मन उसी प्रकार निर्मल रहता है जैसे गंगोत्री की उछलती धारा।

"बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास। सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय।" परमार्थ के नाम पर योग का भी एक वसंत है जिसका फल क्षणिक है। वैसे योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। परन्तु योग के नाम पर पुराकाल से अपनी आत्मा से भिन्न किसी

भास-अध्यास को ही अपना लक्ष्य मानकर उसमें रमने की आदत रही है। योगी लोग श्वास को ब्रह्मांड एवं खोपड़ीरूपी आकाश में चढ़ाते हैं। वहां शब्द, नाद एवं ज्योति की चमक-दमक को ब्रह्म मानकर उसी में भूल जाते हैं। "बिनु तरिवर फूले आकाश" का अर्थ यही है कि बिना पेड़ के अर्थात खोपड़ी के शून्याकाश में एक ज्योति की कल्पना की। उसे ब्रह्म माना। वही मानो आकाश का फूल है। शिव तथा ब्रह्मा-जैसे ज्ञानी लोग भी उसी की सुगंध लेने लगे। इतना ही क्या सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि भी उसी की सुगंध में भूल गये। क्योंकि उन्होंने चौरासी लाख योनिरूप, जड़-चेतनमय संसार को ही ब्रह्म मान लिया। वस्तुतः अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की कल्पना करना ही मानो आकाश के फूल की सुगंध लेने का मिथ्या प्रयास है।

"जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव।" कबीर देव साधकों से कहते हैं कि यदि तुम्हें सच्चे सद्गुरु मिल जायेंगे और वे सत्यस्वरूप का बोध दे देंगे, तो तुम निश्चय ही उनके चरणों की भक्ति में अचल हो जाओगे। किसी को फांसी की सजा मिली हो और उसे फांसी के तख्ते पर खड़ा कर दिया गया हो, इतने में कोई आकर उसे तख्ते से उतार ले, किसी डूबते हुए तथा आग के बीच में पड़े हुए को कोई बचा ले तो वह उसका कितना श्रद्धेय हो जायेगा, यह सहज समझा जा सकता है। परन्तु इन घटनाओं में तो केवल क्षणिक देह की ही रक्षा हुई। देह की रक्षा आगे नहीं हो सकती। शरीर का नाश तो एक दिन होना ही है, वह चाहे आज हो या दूसरे दिन। वस्तुतः मनुष्य का परम रक्षक एवं उद्धारक वह है जो उसे भवसागर में बहने से बचा ले। इससे अविनाशी जीव की रक्षा होती है। अतएव अग्नि, जल, विष, फांसी आदि से बचाने वाले की अपेक्षा सद्गुरु का उपकार महान है। जो जीव को मानसिक पीड़ा से मुक्त होने के पथ में ला दे उस सद्गुरु के समान उसका कोई उपकारी नहीं। इस बोध के महत्त्व का जिसे पता है वह साधक सद्गुरु तथा संतों के चरणों में अचल श्रद्धा रखता है। वह गुरु-संतों के प्रति लगी हुई श्रद्धा कभी नहीं छोड़ सकता।

"अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझे सो पाव।" हमारे मन में अमरलोक के फल पाने के लिए उत्कट इच्छा होनी चाहिए। साहेब कहते हैं जो इसे बूझेगा वह पायेगा। हमारी अपनी चेतना ही अमरलोक है। जीव अमर है। अतएव जीव के शुद्ध स्वरूप आत्माराम को छोड़कर कहीं बाहर अमरलोक नहीं है। हम भूलवश जड़ भोगों की चाहना करते हैं जो क्षणिक

हैं। यदि हम अविनाशी निजस्वरूप की स्थिति की चाहना करें तो इसका मिलना सहज है। इसको ठीक से समझकर बाहर से इसमें लौट आना ही इसे पाना है और यही अमरलोक का फल पाना है। अमरलोक अपना चेतनस्वरूप है। उसमें स्थिति का फल है शांति। जो इस तत्त्व को समझ जायेगा वह शांति पा जायेगा। फिर उसके लिए निरन्तर वसंत हो जायेगा।

क्षणिक माया में मत भूलो

बसन्त-2

रसना पढ़ि लेहु श्री बसन्त, बहुरि जाय परबेहु यम केफन्द॥ 1॥
मेरुडण्ड पर डंक दीन्ह, अष्ट कँवल परचारि लीन्ह॥ 2॥
ब्रह्म अगिन कियो परकाश, अर्ध उर्ध तहाँ बहै बतास॥ 3॥
नौ नारी परिमल सो गाँव, सखी पाँच तहाँ देखन धाव॥ 4॥
अनहद बाजा रहल पूरि, तहँ पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि॥ 5॥
माया देखि कस रह्यो है भूलि, जस बनस्पति रहि हैं फूलि॥ 6॥
कहहिं कबीर यह हरि के दास, फगुआ माँगै बैकुण्ठ बास॥ 7॥

शब्दार्थ—रसना=जीभ। श्री बसन्त= वह शोभायमान वसंत जो हठयोग का फल है। मेरुडण्ड=मेरुदंड, रीढ़, गुदा से सिर तक पीठ पर गयी हुई गुरियादार हड्डी। डंक=बिच्छू आदि का जहरीला कांटा, वृत्ति। अष्ट-कँवल=अष्टकमल—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार तथा सुरतिकमल। परचारि=प्रज्वलित। अर्ध=नीचे, नाभि। ऊर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर, ब्रह्मांड। बतास=वायु। नौ नारी[1]=पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशनी तथा वारुणी। परिमल=सुगंध। सखी पाँच=पांच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। अनहदबाजा=अनाहतनाद। बहत्तर=बहत्तर कोठे।

भावार्थ—योगी लोग कहते हैं कि हे रसना! हठयोग के शोभायमान वसंत के फलस्वरूप प्राप्त जो ब्रह्म है उसका जप कर लो। यदि यह न करोगे

---

1. नौ नाड़ियां तथा पांच प्राणों के स्थान एवं गतिविधि—पुहुखा बायें कान में, पयस्विनी दाहिने कान में, गंधारी बायें नेत्र में, हस्तिनी दाहिने नेत्र में, कुहू लिंग में, शंखिनी गुदा में, अलंबुषा मुख में, गणेशिनी बायें हाथ में और वारुणी दाहिने हाथ में माना है।
   प्राण का स्थान हृदय है, इसका काम नाक द्वारा बाहरी वायु को पकड़ना-छोड़ना है। अपान का स्थान पेडू है, इसका काम मल-मूत्र का त्याग और गर्भ प्रसव करना है। समान का स्थान नाभि है, इसका काम भोजन पचाना है। व्यान का स्थान शरीर भर में है, इसका काम जोड़ों को घुमाना और रस-रक्त का शरीर भर में वहन करना है। उदान का स्थान कंठ है, इसका काम है जल-भोजन निगलने में बल देना तथा अन्न-जल का विभाग करना।

तो पुनः वासनाओं में बंधकर संसार में भटकोगे॥ 1॥ उक्त योग की प्रशंसा सुनकर योगियों ने मेरुदंड पर अपनी वृत्ति लगायी और मूलाधार से लेकर सभी चक्रों का वेधन करते हुए ऊपर आठवें सुरतिकमल में जाकर ज्योति प्रज्वलित कर दी॥ 2॥ वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश हो गया और नीचे के समस्त वायु ऊपर पहुंच गये॥ 3॥ उस सुगंधित सुषुम्णा एवं सुरतिकमल ग्राम में पुहुखा, पयस्विनी आदि नौ नाड़ियां भी पहुंच गयीं। इतना ही नहीं, प्राणादि पांच सखियां भी देखने दौड़ीं अर्थात वहां जाकर मिल गयीं॥ 4॥ वहां बहत्तर कोठे के वायु भी आकर मिल गये और अनाहतनाद का मानो घनघोर बाजा बजने लगा और इस वसंत उत्सव में चेतन-पुरुष धूल खेलने लगा॥ 5॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इस माया के खेल को देखकर क्यों भूल रहे हो! यह तो वसंत ऋतु में वनस्पति में फूल आने के समान बहुत क्षणिक है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये हरि-भक्तों की यही कथा है। ये इस फगुआ के खेल में ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं या बैकुण्ठवास चाहते हैं॥ 7॥

व्याख्या—इस वसंत में हठयोग का सुन्दर रूपक है। मेरुदंड-स्थित चक्रों का बेधन, आठवें सुरति-कमल में पहुंचना, वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश होना, उस सुगंध भरे गांव में नौ नारियों का पहुंचना, फिर पांच सखियों का वहां तमाशा देखने के लिए दौड़ जाना, अनहद बाजा बजना और बहत्तर पुरुषों का धूल खेलना सब बड़ा ही रोचक एवं मनमोहक है। यह सब कहकर साहेब यह चित्रित करते हैं कि योगी छह या सात चक्रों का वेधन करके आठवें सुरतिकमल में पहुंच जाता है जहां ज्योति-प्रकाश जल जाता है तथा अनाहतनाद उठने लगता है, क्योंकि वहां इसके पहले ही नौ नाड़ियों, पांच प्राणों एवं बहत्तर कोठों से वायु सिमिटकर इकट्ठा हो जाता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह सब माया का खेल है। वे कहते हैं कि हे योगियो! तुम इस माया का खेल देखकर क्यों भूल रहे हो! हठयोग का सारा फल अनाहतनाद एवं ज्योति है जिन्हें जीव इन्द्रियों से सुनता तथा देखता है, तो वे सब श्राव्य एवं दृश्य मात्र होने से जड़ हैं और उनके श्रोता तथा द्रष्टा जीव चेतन हैं। जैसे वसन्त में या किसी समय वनस्पतियां फूलों से लद गयी हों, तो वे सब कब तक रहेंगी। "टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास।" माया का सारा शृंगार दस दिन का खेल है। जैसे बाहर की माया क्षणिक है, वैसे हठयोग द्वारा उपलब्ध भास-दृश्य की चमक-दमक क्षणिक है। जो जीव से कभी नहीं छूटता वह उसका अपना स्वरूप है, अपनी चेतना एवं आत्मा है। स्थूल-सूक्ष्म संसार से लौटकर उसी निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से अविचल

शांति मिलेगी। यही अनन्तपद है जो कभी नहीं छूटता।

साहेब कहते हैं कि परन्तु ये जो हरि के भक्तजन हैं, ये फगुआ में बैकुण्ठवास चाहते हैं। होली के समय लोग द्वार-द्वार पर फगुआ गाते हैं और लोगों से उपहार मांगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर योगमार्ग द्वारा ब्रह्मज्योति में मिलना चाहते हैं। दूसरे सगुण उपासक लोग कहीं अलग भगवान का लोक मानकर तथा उनके नाम बैकुण्ठ, साकेत, शिवलोक, ब्रह्मलोक, सतलोक आदि रखकर उन्हीं में से किसी एक में स्थायी निवास चाहते हैं। वे अपने भक्तिरूपी फगुआ के फल में ईश्वर के लोक में जाना चाहते हैं; परन्तु इन भोले लोगों को यह पता नहीं है कि हठयोग का सारा फल जो नाद-श्रवण एवं ज्योति-दर्शन माना है वह ब्रह्म नहीं, किन्तु मन-इन्द्रियों का भास मात्र है तथा जो सगुण उपासकों ने लोक-लोकांतर मानकर वहां किसी भगवान से मिलकर भोगों को भोगने की लालसा की है वह उनका केवल बालकपन है, क्योंकि अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है जो मिलेगा और न कोई लोक एवं बैकुण्ठ, स्वर्गादि हैं जहां पहुंचकर छककर सुख मिलेगा। वैसे स्वर्ग की प्राप्ति भी क्षणिक ही माना गया है। "क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति" परन्तु पहली बात तो वह है ही नहीं।

मेरी अपनी आत्मा के अलावा सब कुछ छूटने वाला, क्षणिक एवं नश्वर है। इसलिए बाह्य सारी उपलब्धियां वनस्पतियों के क्षणिक फूलों की रौनक के समान नाशवान हैं। अतएव हमें सारे दृश्यों का मोह छोड़कर अपने द्रष्टा चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

शरीर एक करघा है जिससे कर्मों के वस्त्र बुने जाते हैं

बसन्त-3

मैं आयों मेस्तर मिलन तोहिं, ऋतु बसन्त पहिरावहु मोहिं॥ 1॥
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन॥ 2॥
सर लागै तेहि तिनसै साठ, कसनि बहत्तर लागु गाँठ॥ 3॥
खुरखुर खुरखुर चालै नारि, बैठि जोलाहिन पल्थी मारि॥ 4॥
ऊपर नचनियाँ करत कोड़, करिगहमा दुई चलत गोड़॥ 5॥
पाँच पचीसों दशहूँ द्वार, सखी पाँच तहाँ रची धमार॥ 6॥
रंग बिरंगी पहिरे चीर, हरि के चरण धै गावैं कबीर॥ 7॥

शब्दार्थ—मेस्तर=महत्तर, श्रेष्ठ सद्गुरु। पुरिया=ताना, वासना, देह। पाई=बांस की तीलियों या बेंत का बना ढांचा जिस पर ताने के सूत को

फैलाकर जुलाहे उसे मांजते हैं, विवेक, आयु। सूत=श्वास। खूँटा तीन=ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। सर=सरकंडे। नारि=नरी, नाड़ी। जोलाहिन=मनोवृत्ति। कोड़=क्रीड़ा। करिगह=करघा। गोड़=पैर, श्वास। पाँच=पंच प्राण। पचीसों=प्रकृतियां। दसहूं द्वार=दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न तथा ब्रह्मरंध्र। सखी पाँच=पांच ज्ञानेन्द्रियां। धमार=फाग के गीत, आनन्द-उल्लास, उछल-कूद।

भावार्थ—हे महान सद्गुरु, मैं आपसे मिलने आया हूं। मुझे सनातन होने वाली आध्यात्मिक वसंत ऋतु का वासंती वस्त्र पहनाओ॥ 1॥ यह मेरा शरीररूपी पुरिया धारण करने का क्रम लम्बा अर्थात अनादिकालीन है। इसको मांजने की विवेक-पाई क्षीण है। श्वास भी पुराना है जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—इन तीन खूंटों में बंधा है॥ 2॥ इस शरीर में तीन सौ साठ सरकंडे एवं हड्डियां लगी हैं और बहत्तर[1] गांठों से कसा है॥ 3॥ यह शरीर एक करघा ही है जिसमें कर्म के वस्त्र बुने जा रहे हैं। जैसे करघा चलते समय भरनी-सूत की नरी दायें से बायें, बायें से दायें खुरखुर-खुरखुर चलती है, अलग जोलाहिन पल्थी मारकर बैठी हुई नरियों में चरखी द्वारा सूत की आंटी तैयार करती है, करघे के ऊपर लगी हुई चटकनियां नाचती हैं और करघे के नीचे गड्ढे में जोलाहे के दोनों पैर चलते हैं, वैसे इस शरीररूपी करघे में श्वास की नरियां खुरखुर-खुरखुर चलती हैं, इसमें मनोवृत्तिरूप जोलाहिन पलथी मार कर बैठी रहती है, ऊपर दोनों नेत्र मानो नचनियां की तरह नाचते हैं और शरीर के दोनों पैर चलते हैं॥ 4-5॥ पंच प्राण, पचीस प्रकृतियां, दस दरवाजे के साज वाले इस शरीर में पांच ज्ञानेंद्रियांरूपी सखियां विषय-रंग रूप फाग के गीत गातीं तथा उछल-कूद मचातीं हैं। इस प्रकार नाना योनियों के शरीर-रूपी रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव पहनता रहता है। इन सब बंधनों से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु हरि या गुरु के चरणों को पकड़कर अपना विनय सुनाता है॥ 6-7॥

व्याख्या—फारसी भाषा में 'मेह' का अर्थ बड़ा, बुजुर्ग एवं सरदार है और 'मेहतर' कहते हैं अधिक बड़ा को। संस्कृत भाषा में 'महत्तर' शब्द है, जिसका अर्थ होता है अधिक बड़ा। वैसे फारसी के मेहतर का एक प्रसिद्ध

---

1. कहा जाता है कि शरीर में बहत्तर ग्रन्थियां हैं। उनके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं—16 कंडराएं, 16 जाल, 4 रज्जु, 7 सेवनी, 14 अस्थिसंघात, 12 सीमांत तथा 1 त्वचा। इन्हीं बहत्तर ग्रन्थियों से शरीर ग्रथित है। इन बहत्तर ग्रंथियों की प्रत्येक में से एक-एक हजार नाड़ियां फैली हुई मानी जाती हैं। इसलिए शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का विस्तार माना जाता है।

अर्थ मैला उठाने या साफ करने वाला भी है तथा संस्कृत के 'महत्तर' का एक अर्थ दरबारी या शूद्र भी है। यहां इस वसंत की आरम्भिक पंक्ति में 'मेस्तर' फारसी भाषा का 'मेहतर' लगता है जिसका अर्थ अधिक बड़ा होता है। परन्तु संस्कृत भाषा के महत्तर का अर्थ भी वही होता है। यहां यह शब्द सद्गुरु के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसने शरीर की वास्तविकता को समझ लिया है वह इसके भौतिकीय परिवेश से विरक्त हो जाता है। यह अलग बात है कि यह शरीर ही कल्याण का साधन है। इसलिए वह साधना की दृष्टि से इसका महत्त्व समझता है, किन्तु मायिक दृष्टि से इसे तुच्छ समझता है।

मुमुक्षु कहता है कि हे महान सद्गुरु! मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। आने का एक ही कारण है कि मैं सांसारिक क्षणिक वसंत एवं राग-रंग से उदास हो गया हूं। अब मैं ऐसा वसंत चाहता हूं जो कभी समाप्त न हो। ऐसी वसंत ऋतु का ही वासंती वस्त्र मुझे पहना दो जो कभी न उतरे। वासना के त्याग के बाद जो अमर आत्माराम में रमण होता है वह महान वसंत है और वह वसंत कभी समाप्त नहीं होता। उसके भावों का निरन्तर बना रहना ही मानो वासंती वस्त्र है। जब सद्गुरु सत्पात्र शिष्य को जड़-वासना-त्याग तथा आत्माराम के अनुराग का उपदेश करता है और साधक इस उपदेश को जीवन में उतारकर उसमें निमग्न हो जाता है तब मानो उसके लिए अनंत वसंत ऋतु का आरम्भ हो जाता है जो कभी समाप्त होने वाला नहीं है। जो सारी विषयासक्तियों को त्यागकर निरन्तर निजस्वरूप में रमण करता है उसे कहां मोह तथा कहां शोक। वह 'सदा अनंदा' है।

'पुरिया' बाना फैलाने की नरी या ताना को कहते हैं और 'पाई' उसे कहते हैं जो बांस की तीलियों या बेतों का एक ढांचा होता है। जिस पर ताने के सूत को फैलाकर उसे जुलाहे मांजते हैं। यह शरीर लम्बी पुरिया है। इसके बनने-मिटने का क्रम अनादि है। इसे मांजकर साफ करने की 'पाई' विवेक है, वह क्षीण है। जहां विवेक ही क्षीण हो वहां जीवन मांजकर शुद्ध कैसे किया जा सकता है! सूत को हम श्वास मान सकते हैं जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा रूपी तीन खूंटे में बंधा है। यदि सूत का अर्थ सनातन जीव लें तो अर्थ होगा कि यह वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा अथवा काम, क्रोध और लोभ, अथवा रज, सत एवं तम इन तीन खूंटों में बंधा है।

इस शरीर को साहेब ने यहां करघा बताया है। करघा में वस्त्र बुना जाता है। इस शरीररूपी करघा में कर्म का वस्त्र बुना जाता है। यह पंच प्राण, पचीस प्रकृतियों तथा दस दरवाजे का करघा है जिसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां-सखी

सदैव धमार खेलती हैं, उछल-कूद मचाती हैं। इस प्रकार कर्मों एवं कर्मजनित शरीरों के रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव बारम्बार पहनता है। कभी स्त्री का शरीर, कभी पुरुष का शरीर, कभी नपुंसक का शरीर तो कभी अन्य विविध योनियों का शरीर धारण करता रहता है। इन दुखों से छूटने के लिए मुमुक्षु जीव हरि के चरणों को पकड़कर विनय करता है। मनुष्य की जैसी समझ होती है वैसा आलंबन पकड़ता है। कोई गुरु को ही हरि मानकर उसी से प्रेरणा प्राप्त करता है, और यही तथ्य है। गुरु के अलावा हरि का कोई लक्षण ही नहीं मिलेगा। परन्तु बहुत-से लोग गुरु से बाहर हरि खोजते रहते हैं। जैसी भावना तथा समझ होती है, मनुष्य उसी प्रकार संसार के दुखों से छूटने के लिए प्रयास करता रहता है।

बुढ़िया माया की जवानी

बसन्त-4

बुढ़िया हँसि बोली मैं नितही बार, मोसे तरुनि कहो कवनि नार॥ 1॥
दाँत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात॥ 2॥
नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत॥ 3॥
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार॥ 4॥
कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय॥ 5॥

शब्दार्थ—बुढ़िया=माया, तृष्णा। बार=बाला, युवती। नार=नारी। कजरा=काजल। बैस=वयस, उम्र। आनन्द गाय=सुखद सीधी गाय। पूत भतारहिं=सभी मनुष्यों को।

भावार्थ—तृष्णा-मायारूपी बुढ़िया हंसकर बोली कि मैं नित्य युवती हूं। कहो भला, मेरे समान युवती स्त्री दूसरी कौन होगी॥ 1॥ यदि मेरे टूटे दांत, उजले केश, बैठी आंखें तथा बूढ़े शरीर देखकर मेरी जवानी के प्रति शंका हो, तो लो, मैं इसका भेद बताये देती हूं—यह तो अधिक पान खाते-खाते मेरे दांत झड़ गये हैं, गंगा में अधिक नहाते-नहाते मेरे केश उजले हो गये हैं, अधिक काजल लगाते-लगाते मेरी आंखें बैठ गयी हैं और पर-पुरुषों का समागम करते-करते मेरी उम्र ढली-जैसी लगती है, परन्तु बात ऐसी है नहीं, मैं नित्य युवती हूं॥ 2-3॥ जो मेरे सुख का अनुभव रखते हैं, उनका तो मैं नित्य आहार करती हूं और जो मेरे सुख से अजानकार हैं उनको फंसाने के लिए शृंगार करती हूं॥ 4॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वह बुढ़िया माया देखने में आनंदप्रद सीधी-सादी गाय लगती है, परन्तु है खूँखार बाघिनि, जो सभी

मनुष्यों को खा बैठी है॥ 5॥

व्याख्या—माया है मन का मोह और वह अनादिकालीन है। इसलिए सद्गुरु ने इसे बुढ़िया कहा है। परन्तु यह बुढ़िया होते हुए भी नित्य युवती है, क्योंकि मनुष्य की तृष्णा बिना ज्ञान के कभी समाप्त नहीं होती है। शरीर तो बूढ़ा होता है परन्तु तृष्णा युवती बनी रहती है। पिछले वसन्त के पूरे पद में शरीर के लिए करघा का रूपक था। इस वसन्त में पूरा पद माया के लिए बुढ़िया-मानव का रूपक है। कबीर साहेब का अद्भुत दिमाग था। उनका सोचना अद्भुत था। वे अपनी बातों को रूपकों, प्रतीकों, उलटवासियों आदि में इतने सटीक ढंग से रख देते हैं कि सोचते ही बनता है।

यहां बुढ़िया का अर्थ किसी स्त्री से नहीं है, किन्तु माया ही बुढ़िया है। माया मन का मोह है, मन की तृष्णा है। हम जिन प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से लगाव करते तथा उनका उपभोग करते हैं उनके प्रति हमारे मन में मोह बनता है और वहां तृष्णा अपना घर बनाती है। तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। शरीर बूढ़ा हो जाता है, परन्तु तृष्णा ताजा-तवाना बनी रहती है। यहां बुढ़िया-माया एवं तृष्णा का हंसना इसलिए बताया गया है कि वह बुद्धिमान, विद्वान एवं बड़े-बड़े वाचिक ज्ञानियों को अपने वश में रखती है। 'हैं सब मेरे पंजे में और बनते हैं बुद्धिमान, विद्वान और ज्ञानी।' यही भाव उसके हंसने का है।

कबीर साहेब ने बुढ़िया-माया के माध्यम से मायावशी लोगों का इस वसन्त में जैसा मजाक उड़ाया है वह बड़ा ही मनोरंजक है। तृष्णा एवं मन के मोह में डूबे लोग यही मानते हैं कि हम तो जवान ही हैं। उनके शरीर ढीले हो जाते हैं, वे दिन-दिन बुढ़ापा की तरफ खिसकते जाते हैं, परन्तु उन्हें यही भ्रम बना रहता है कि हम जवान हैं।

तृष्णा का सर्वाधिक मनोरंजक मजाक दूसरी और तीसरी पंक्तियों में है "दांत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात। नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत।" माया और तृष्णा में डूबे लोग अपने आप को यही चित्रित करते हैं कि हम अभी बूढ़े नहीं हैं चाहे वे भले बूढ़े हो गये हों।

"जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार।" जो लोग विषय भोगों के आदती हैं वे मानो विषयों के सुख जानते हैं। जानते क्या हैं, उनको भ्रम होता है कि हमें विषयों में सुख मिलता है। इसी भ्रम के परिणाम में वे माया एवं तृष्णा के खाद्य बन जाते हैं। जिनको जितना विषय-सुख का भ्रम होता है, उतना उसमें डूबकर अपने आप को खोते हैं। माया मानो उन्हें अपना आहार ही समझती है। जो लोग माया में नहीं लगे हैं उनको फंसाने के लिए

वह शृंगार करती है। जो माया-मोह वाले लोग हैं उनको देखते नहीं हो कि वे सरल लोगों को कुसंग एवं विषय का पाठ पढ़ाकर उन्हें भी माया में डुबा देते हैं। सरल लोगों को बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग, शराब, फैशनबाजी, विषय-लंपटता, चोरी, धोखाधड़ी तथा अनेक कुकर्मों का पाठ कौन पढ़ाता है? जो पहले से उनमें डूबे रहते हैं।

"कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।" यह बुढ़िया माया एवं तृष्णा बड़ी प्यारी लगती है, आनन्दप्रद भोली-भाली गाय-जैसी लगती है, परन्तु ऐसी न होकर क्रूर सिंहनी है। क्योंकि यह सबको खा बैठी है। मोह एवं तृष्णा सबको प्रिय हैं। अविवेकवश मोह-माया कितनी प्यारी लगती है! भोगों की तृष्णा बड़ी अच्छी लगती है, परन्तु यही इसकी क्रूरता है जिसे समझना मामूली बात नहीं है। काम-भोग सब जीवों को प्रिय है, परन्तु यही सारे मानसिक द्वन्द्वों एवं क्लेशों का कारण है। मोह-माया और तृष्णा में फंसा हुआ जीव निरंतर भवाटवी में भटकता रहता है। यह माया "पूत भतारहि बैठी खाय" पूत-भतार से मतलब है सभी मनुष्य। यही सभी मनुष्यों को अपने में फंसाकर उन्हें दुख दे रही है।

इस पूरे वंसत का सरल भाव यह है कि मनुष्य अपने अज्ञानवश विषयों की तृष्णा में फंसा जीवनभर अंधा बना रहता है। वह शरीर, जवानी तथा प्राणी-पदार्थों को सत्य माने बैठा रहता है। उसे अज्ञानवश अपनी भक्षक आदतें एवं वासनाएं ही प्यारी लगती हैं। अज्ञान की निवृत्ति तथा वासना के त्याग से ही यह दुख दूर होगा।

यह विषयों की तृष्णा बड़ी दुर्धर बेड़ी है। बड़ी ही साधना, कड़ाई, सत्संग, वैराग्य, विवेक एवं ज्ञान से इसको मिटाया जा सकता है। इसके रहते तक मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं हो सकता। तृष्णा के कारण ही मन सदैव विषयों में लोटा-पोटा करता है। जब विषयों की तृष्णा का अन्त हो जाता है तब मनुष्य की जो दिव्य स्थिति होती है, उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। अनुभव करके ही उसकी महत्ता जानी जा सकती है।

मनुष्य के जीवन में यदि विशेषता है तो यही है। मनुष्येतर पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि तो विषयों के कीड़े बने ही हैं। यदि मनुष्य भी विषयों का कीड़ा बना हो तो वह पशु आदि से क्या विशेष हुआ! इस पांच फुट के हाड़-मांस के शरीर में रहते-रहते जब जीव निर्विकार मन वाला हो जाता है और तृष्णा को सर्वथा जीत लेता है तब वह अपने गौरव में प्रतिष्ठित हो जाता है। सारा सुख और श्रेष्ठता इस निर्मल मन की स्थिति में ही समझना चाहिए।

जिसका मन विषय-वासनाओं के दलदल से नहीं निकला है वह अन्य सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होने पर भी तुच्छ है और जिसका मन इस दलदल से सर्वथा मुक्त होकर निष्काम, निर्हंकार, निर्मोह एवं वितृष्ण हो गया है वह अन्य प्रकार से तुच्छ होने पर भी महान-से-महान है। उसके बराबर कोई नहीं है। फिर उससे बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है!

माया-नारि

बसन्त-5

तुम बुझ बुझ पण्डित कौनि नारि, काहु न ब्याहलि है कुमारि॥ 1॥
सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह॥ 2॥
प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि॥ 3॥
ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि॥ 4॥
कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि॥ 5॥

शब्दार्थ—कुमारि=कुमारी, कुंआरी, जो ब्याही न गयी हो। हरि=विष्णु। पदुमिनी=पद्मिनी, स्त्रियों का उत्तम भेद। जोवत=खोजती है। बर=वर, दूल्हा, पति। रैनि=रात, वासना।

भावार्थ—हे पंडितो! तुम लोग बारम्बार बूझो और समझो कि वह कौन ऐसी स्त्री है जिसे कोई ब्याह कर अपनी पत्नी नहीं बना सका और जो आज तक कुंआरी बनी है॥ 1॥ कहते हैं कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु को दिया तो वे उसे चारों युगों से अपने साथ लिये हैं॥ 2॥ इस स्त्री का पहला एवं उत्तम लक्षण पद्मिनी है, परन्तु यह सर्पिणी है और संसार के लोगों को खदेड़कर खा जाती है॥ 3॥ यह अपने लक्षणों वाला दूल्हा खोजती है, परन्तु यदि इसे वैसा पति नहीं मिलता है तो इसे वासना का अत्यंत तीव्र वेग सहना पड़ता है॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जगत को प्यारी लगती है, परन्तु यह अपने जन्माये हुए बालकों को ही मारती है॥ 5॥

व्याख्या—सद्गुरु इस वसंत में एक ऐसी नारी का वर्णन करते हैं जो किसी से ब्याही नहीं गयी है और आज तक कुंआरी है। वह कौन नारी है, इसे समझने के लिए वे पंडितों को निमंत्रित करते हैं। क्योंकि पंडित सूक्ष्मदर्शी होते हैं। वस्तुतः तत्त्वविवेकी को ही पंडित कहा जाता है। प्रश्न होता है कि यह कौन नारी है जो आज तक किसी द्वारा ब्याही नहीं गयी है! यह है

'माया'। आज तक माया किसी के अधीन नहीं हुई। यह धरती अनादिकाल से पड़ी है। इसे भोगने के लिए बड़े-बड़े तूफान रचने वाले लोग हुए, परन्तु वे कुछ ही दिनों में कीड़े के समान इस धरती में समा गये। यह प्रसिद्ध लोकोक्ति अत्यन्त हृदयस्पर्शी है "यह वसुधा काहू की न भई।" माया की जितनी चीजें हैं धरती कह देने से सब का बोध हो जाता है क्योंकि "सबकी उत्पत्ति धरती।"[1] जीव को जो कुछ प्राप्त होता है वह सब माया है, और उसके पास नित्य रहने वाला नहीं है। अतएव यह मायारूपी नारी आज तक किसी द्वारा ब्याही नहीं गयी अर्थात किसी द्वारा अधिकृत नहीं की गयी। इस लक्षण से आगे के लिए भी समझा जा सकता है कि यह किसी के भी अधीन होने वाली नहीं है। जैसे रेल की छाया, अंजुली का जल स्थिर नहीं, वैसे माया अपने अधीन नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडितो! इस बात पर गंभीरता से विचार करो और माया के मोह का त्याग करो। माया-मोह के त्याग में ही पांडित्य है।

कहा जाता है कि माया अपना सुन्दर वेष बनाकर एक महात्मा के पास गयी और उसने उनसे कहा कि आप मुझसे विवाह कर लें।

महात्मा—तू कितनी अवस्था की है?

माया—मैं अनादिकाल की हूं, मेरी अवस्था की सीमा नहीं।

महात्मा—क्या अभी तक तेरा विवाह नहीं हुआ?

माया—नहीं।

महात्मा—क्यों?

माया—संसारी मुझे चाहते हैं, परन्तु मैं उन्हें नहीं चाहती। त्यागी को मैं चाहती हूं, परन्तु वे मुझे नहीं चाहते, इसलिए अभी तक मैं कुंआरी हूं।

महात्मा—तो मैं भी तुझे नहीं चाहता।

यह सुनकर माया लज्जित होकर चली गयी।

"सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह।" पुराणों में तो समुद्र-मंथन की बात आती ही है।[2] कहते हैं समुद्र-मंथन से चौदह रत्न निकले।[3] उनमें से श्री अर्थात लक्ष्मी भी एक रत्न हैं जो समुद्र-मंथन करने

---

1. साखी 201।
2. हरिवंश पुराण, भविष्य पर्व, अध्याय 30।
3. श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमी, शंख, गजराज।
   कल्पवृक्ष, शशि, धेनु, धनु, धन्वन्तरि, विष, बाज॥

से उसमें से निकलीं।[1] कहते हैं कि जब लक्ष्मी निकलीं तब देवताओं ने मिलकर उन्हें श्री विष्णु को समर्पित कर दिया और श्री विष्णु ने लक्ष्मी को लेकर उन्हें चारों युगों तक अपनी पत्नी के रूप में रखा। पौराणिक धारणा यह है कि श्री विष्णु जगत के मालिक परम ईश्वर हैं और लक्ष्मी उनकी आदिशक्ति हैं। लक्ष्मी कभी श्री विष्णु से अलग नहीं होतीं। अन्य जीव के अधीन तो लक्ष्मी नहीं होतीं, परन्तु वे श्री विष्णु के नित्य अधीन रहती हैं।

कहना न होगा कि देहधारी कोई ऐसा विष्णु नहीं है कि वह अमर हो। इस बात को बीजक भर में बारम्बार दोहराया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव सब देह धरकर छोड़ चुके हैं। यह तथ्य है कि ब्रह्मादि नाम के ये तीनों महापुरुष रहे होंगे तो मनुष्य के रूप में जन्म लेकर कुछ दिन रहे होंगे और वृद्ध होकर शरीर छोड़ चुके होंगे। वैसे जिस ढंग से पुराणों में इनका वर्णन है उस ढंग से तो इनका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। न वेद-शास्त्र इसके साक्षी हैं और न प्रकृति के नियम। चार हाथ, चार मुंह आदि का होना, उनका लोक-लोकांतरों में अपनी देह के सहित आना-जाना, करोड़ों-करोड़ों वर्ष रहना, जगत के उत्पत्ति, पालन, संहार करना आदि केवल मनोरंजन मात्र हैं।

1. भागवत, स्कन्ध 8, अध्याय 8।